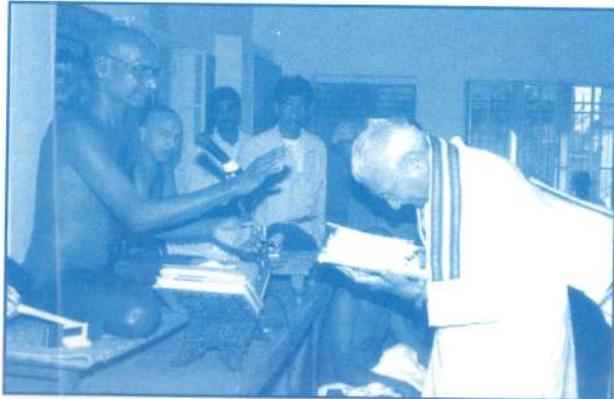


जैन धर्म के जिज्ञासु-अनजान-विरोधियों को समर्पित
विश्वहितकारी जैनधर्म का स्वरूप

(जैनधर्म का स्वरूप जाने बिना उसका विरोध करना अनुचित)

सर्वधर्म सम्मेलन



भारतीय समस्यायें एवं समाधान निमित्त आयोजित सर्वधर्म सम्मेलन
में आ. कनकनन्दी स्व-रचित कुछ साहित्य अशोक सिंघल को
आशीर्वाद सहित अर्पण करते हुए। (उदयपुर - 2005)

लेखक - आचार्य कनकनन्दी

जैनधर्म के जिज्ञासु—अनजान—विरोधियों को समर्पित विश्वहितकारी जैनधर्म का स्वरूप

(जैनधर्म का स्वरूप जाने विना उसका विरोध करना अनुचित)

—: पुण्य स्मरण :-

विश्व धर्म सभा, मेलबोर्न में आचार्य श्री कनकनन्दीजी के शिष्य डॉ. नारायणलाल कछारा का “जैन कर्म सिद्धान्त एवं विश्वशान्ति” विषय पर उद्बोधन एवं प्रतिभागी; उपकुलपति प्रो. डॉ. सोहनराज जी तातोड़ के प्रयास से 11 प्रदेश के 27 विश्वविद्यालयों में आचार्य कनकनन्दी साहित्य कक्ष की स्थापना तथा शोधकार्य, विदेश की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था “पीस नेकसट” में आचार्य श्री कनकनन्दी जी के सदस्य (1466) बनने के उपलक्ष्य में

ग्रन्थांक - 190

प्रतियाँ - 2000

प्रथम संस्करण - 2010

मूल्य - 10/- रु.

द्रव्यदाता - पिताश्री स्व. नेमीचन्द्रजी जौहरी तथा
मातुश्री स्व. शान्तिदेवी की पुण्यस्मृति में (अमेरिका)

—: प्राप्ति स्थान:-

धर्म दर्शन सेवा संस्थान (उदयपुर)

द्वारा - श्री छोटूलाल जी चित्तीङ्ग

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर आयड़,

आयड़ बस स्टॉप के पास, उदयपुर (राज.) - 313001

फोन नं. (0294) 2413565, 6941114

—: सम्पर्क सूत्र :-

डॉ. नारायण जी कछारा (सचिव)

55, रवीन्द्र नगर, उदयपुर (राज.) - 313001

फोन नं. (0294) 2491422, फो. 9214460622

ई मेल : nikkachhara@yahoo.com

—: लेखक :-

पैज़ानिक आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव

विश्वधर्म सम्मेलन का प्रतिवेदन



विश्वधर्म सम्मेलन (आस्ट्रेलिया) में आ. कनकनन्दी के सप्त
प्रतिनिधित्व के रूप में भाग लेने के उपलक्ष्य में डॉ. कछारा व
आचार्य श्री ने “विश्व धर्म प्रभाकर” पदवी से अलंकृत व
के अवसर पर डॉ. कछारा का उद्बोधन
(गुरुभक्त सांस्कृतिक ग्राम रामगढ़ - 2010)

विषयानुक्रमाणिका

क्र.सं. विषय

पृ.सं.

1. जैन धर्म का स्वरूप जाने बिना उसका उसका विरोध करना अनुचित 5
2. हिन्दु, बौद्ध, ईसाई, मुस्लिम धर्म में भी नग्नत्व 12
3. जिनेन्द्र, जैन, जिनशासन; सुझाव एवं आङ्गान 20
4. राष्ट्रकृष्ण रामधारीसिंह दिनकर की दृष्टि में जैन धर्म की विशेषताएँ 26
5. प्रस्तुत कृति के अन्तरंग एवं उद्देश्य...आ. कनकनन्दी (कथञ्चित् मौन से भी श्रेष्ठ सत्य कथन) 31

2

6. जैनधर्म में अन्य धर्म के देवों का अनादर नहीं। 40
7. विश्व हितकारी जैनधर्म का स्वरूप 45
8. विविध जीवों के प्रति जैनधर्म में वर्णित भावनाएँ 64
9. जैन धर्म का सार : विश्वशान्ति का आधार 68
10. जैनधर्म का स्वरूप 70
11. सर्वजीवों के प्रति क्षमा एवं मित्रता 71
12. कषाय क्षय से मोक्ष, न कि पन्थ की कषाय से 71
13. सर्वजीवों के प्रति समता 73
14. विश्वशान्ति की भावना 73
15. द्वेष से विनाश 78
16. जैन धर्मावलम्बियों के 14 विशिष्ट गुट 82
17. अनावश्यक—अप्रयोजनीय कार्य अकरणीय 85

3

इसे पढ़ो ! आगे बढ़ो !

जैनधर्म का स्वरूप जाने विना उसका विरोध करना अनुचित !

— आचार्य कनकनन्दी

18. परम आत्म शोधन—साम्यभाव, पर्यावरण संरक्षण विश्व विज्ञान — विश्वशान्ति की जीवन्त प्रयोगशाला :जैन श्रमण	86
19. भाव शुद्धि	89
20. अहिंसा	90
21. समिति (यत्न पूर्वक आचरण)	92
22. दूसरों से ईर्ष्या, दूसरों की निन्दा भी असत्य — हिंसा — पाप	95
23. हिन्दु धर्म में वर्णित सत्य के 13 स्वरूप	96
24. हिन्दु धर्म में वर्णित 13 प्रबल शत्रु	100
25. अज्ञानावस्था के दोष ज्ञानी अवस्था में त्याग करता है।	106
26. विदेशी नागरिकों में जैन धर्म की प्रभावना	107
27. संविधान प्रदत्त सर्वधर्म समान अधिकार	109

(कुछ जैन नामधारियों के दोषों के कारण जैनधर्म तथा सम्पूर्ण जैन धर्मावलम्बियों को अपराधी मानकर उन्हें मारकर खत्म ही कर देना क्या उचित है ? न्यायसंगत है ? धर्म है ? लोकतन्त्र है ? मानवाधिकार है ? संस्कृति है ? महान् भारत का गौरव है ? पर्यावरण सुरक्षा है ? भारतीय संविधान एवं कानून है ? अन्तर्राष्ट्रीय कानून एवं व्यवस्था है ? किसी भी साधु — महात्मा तथा उनके अनुयायियों के पवित्र कर्तव्य एवं अधिकार है ? आदि—आदि प्रश्नों के सत्य — तथ्यात्मक अनुसंधान, परिज्ञान, विश्वहितकारी जैनधर्म के स्वरूप के सन्दर्भ/परिप्रेक्ष्य में हो, इस महान् उद्देश्य से इस कृति की रचना या यथार्थ से कहें तो संकलन मैंने जैनधर्म के

प्राचीन (प्रायः 1000 से 2000 वर्ष प्राचीन) ग्रन्थों के श्लोक – गाथा – सूत्र के उद्धरण के माध्यम से किया हूँ। इस कृति की रचना में मेरी यह पवित्र – उदात् – उदार भावना है कि धर्म तथा जैन धर्म के यथार्थ स्वरूप को जानकर विश्वमानव स्व-पर-विश्वकल्याण करें।

जैनधर्म वस्तुतः वस्तुस्वरूपात्मक, अनेकान्तमय (सापेक्ष), समतापूर्ण, अहिंसामय, रत्नत्रयात्मक (सम्यक् विश्वास, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र) 10 धर्ममय (उत्तम क्षमा – मार्दव (मृदुता) – आर्जव (सरलता) सत्य–शौच (पवित्रता) संयम – तप – त्याग – आकिञ्चन्य – ब्रह्मचर्य), आत्मशोधक, विश्व के सर्वजीव हितकारी, वैज्ञानिक, पर्यावरण सुरक्षक, साम्यवादी, विश्वशान्तिकर, मानवाधिकार से लेकर सर्वजीवाधिकार के प्रबल समर्थक, शाकाहार के पोषक, फैशन–व्यसन दुर्व्यवहार के विरोधी, क्रोध – मान – माया – लोभ – मिथ्याढोंग – पाखण्ड के परिशोधक, प्रेम–वात्सल्य, सौहार्द्रमय, ईर्ष्या – द्वेष – कटुता – वैरत्व को दूर करने वाला, मैत्री – प्रमोद – कारुण्य – माध्यस्थ भावना से युक्त,

दान – दया – परोपकार के समर्थक, शोषण – भ्रष्टाचार – मिलावट – जमाखोरी (अतिसंग्रह / परिग्रह) – आतंकवाद – जातिवाद – दुराग्रह – कट्टरवाद – पंथवाद से परे हैं। उपर्युक्त गुण धर्म विशेषताओं को श्रद्धा – विवेक – आचरण रूप से जो भी आंशिक या पूर्णतः पालन करता है वह जैन है भले वह पशु – पक्षी – मनुष्य – नारकी – देव ही क्यों न हो। इसलिए जैन धर्म न केवल मानव या जैन वणिया का है यह तो वैशिवक, प्राकृतिक, श्रद्धा, विश्वास, आचरण का धर्म है। जैसा कि जो भी आकाश में रहता है उसे आकाश स्थान / जगह / अवगाहना देता है उसी प्रकार जो भी उपर्युक्त जैनधर्म के गुणधर्म – विशेषताओं को माने – जाने – अपनाये जैन धर्म उसका है। जैनधर्म कोई भौतिक वस्तु नहीं है जो कि हस्तान्तरित हो या वंशानुगत से प्राप्त हो या बपौति, दहेज रूप से प्राप्त हो या भौतिक आदान–प्रदान से प्राप्त हो। जैन धर्म के सम्पूर्ण तीर्थकर क्षत्रिय होते हैं, अनेक साधु, आचार्य, गणधर, अरिहन्त भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य (वणिया) होते हैं। लाखों – करोड़ों शूद्र, पशु, पक्षी, नारकी भी जैन धर्मावलम्बी होते

हैं। जैन धर्मावलम्बी के लिए केवल व्यापार ही जीविका के साधन रूप में शास्त्रों ने नहीं कहा गया है परन्तु असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवा को भी कहा गया है। अभी भी अनेक जैन यह सब करते हैं। इन सब कारणों से जैन धर्म में प्रकृति संरक्षण, वृक्षारोपण, पशुपालन, देशरक्षा, राष्ट्र के आर्थिक सम्बर्द्धन, समाज सेवा, गरीब – रोगी – असहायों की दया से सेवा/व्यवस्था, व्यक्तिगत – पारिवारिक – सामाजिक – राष्ट्रीय – वैश्विक सुख, शान्ति, समृद्धि आदि के लिए महत्वपूर्ण स्थान है। इसीलिए जो यथार्थ से जैनधर्म के अनुयायी हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, परिस्थिति तथा स्व – शक्ति – भक्ति – आवश्यकता को संतुलन में बैठाकर उपर्युक्त जैनधर्म के सिद्धान्त, नियम, व्रतादि का पालन करता है। हाँ यह सदा, सर्वदा, सर्वत्र सम्भव है कि जो ढोंगी / पाखण्डी / बाह्यनामधारी धार्मिक है वह धर्म के नाम पर अधर्म, अन्याय, अत्याचार, पापाचार, भ्रष्टाचार, आतंकवाद, शोषण, मिलावट, मायाचारी, ईर्ष्या, द्वेष, कटुता, वैरत्व, परनिन्दा, दोषारोपण, धार्मिकजनों में विद्वेष, समाज – राष्ट्रद्वारा आदि कार्य कर सकते हैं तथा करते भी हैं। यह सब प्राचीनकाल से ही देश – विदेशों के विभिन्न धर्म – पन्थ

– मत – परम्परा में हुआ है, हो रहा है और आगे होने की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में यदि कोई जैननामधारी (जो यथार्थ से जैनधर्म के सिद्धान्त के अनुसार जैन नहीं है) यदि कुछ अन्याय, अत्याचार, भ्रष्टाचार, शोषण, मिलावट, हिंसा, बूचड़खाना चलाना, मछली पकड़ना, मद्य – मांस – जमीकन्द – तम्बाखू आदि का व्यापार करना आदि करता है तो यह उसका व्यक्तिगत पाप कार्य है न कि जैन धर्म या जैन धर्मावलम्बी – समाज का पाप है। उस पाप का फल भी वह इस जन्म में एवं पर जन्म में भोगने के लिए भी स्वतन्त्र है।

धर्मः शब्द मात्रेण बहुशः प्राणिधमा।

अधर्ममेव सेवन्ते विचार जड़ चेतसाः ॥ (पद्म पुराण)

अधिकांशतः विचारहीन अधर्मी प्राणी धर्म शब्द को लेकर अधर्म ही सेवन करते हैं।

परोपदेशो पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।

धर्मं स्वयमनुष्ठानं कस्याचित् महात्मनः ॥

दूसरों को सदाचार का, धर्म का उपदेश देना सरल

है किन्तु उस उपदेशानुसार स्वयं आचरण करने वाले जगत् में कोई बिले ही सज्जन हैं।

प्रसिद्ध सूक्ति है कि “जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे” अर्थात् जैसा विचार तैसा संसार, जैसी दृष्टि वैसी सृष्टि, जैसी मति वैसी गति। भावानुसार कर्म सञ्चय होता है और कर्मानुसार संसार में विभिन्न गति को प्राप्त करके जीव विभिन्न क्षेत्रों में उत्पन्न होता है और विविध दुःखों को भोगता है।

एवं कर्ता भोक्ता होज्ज अप्पा संगेहिं कम्मोहिं।
हिंदूदि पारमपारं संसार मोहसच्छण्णो॥ (पंचास्ति.)

इस प्रकार अपने कर्मों से कर्ता – भोक्ता होता हुआ आत्मा मोहाच्छादित वर्तता हुआ अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है। इस प्रकार प्रगट प्रभुत्व शक्ति के कारण जिसने अपने कर्मों द्वारा कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का अधिकार ग्रहण किया है ऐसे इस आत्मा को अनादि मोहाच्छादिपने के कारण विपरीत अभिनिवेश की उत्पत्ति होने से सम्यग्ज्ञान ज्योति अस्त हो गई, इसलिए यह सान्त अथवा अनन्त संसार में परिभ्रमण करता है और दुःखों को भोगता है।

अप्पा नई वेयरणी अप्पा मे कूड़सामली।
अप्पा कामदुआ धेणु अप्पा मे नन्दण वण॥ (36) उ.सू.
मेरी अपनी आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट-शालमली वृक्ष है, कामदुधा धेनु है और नन्दनवन है।
अप्पा कर्ता विकर्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा भित्तं ममित्तं य दुप्पद्धिय सुपद्धिओ॥

आत्मा ही अपने सुख-दुःख का कर्ता है और विकर्ता विनाशक है। सत् प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना मित्र है और दुष्प्रवृत्ति में स्थित आत्मा ही अपना शत्रु है। जैन धर्म व्यक्तिगत, जातिगत, पंथगत संकीर्णताओं से सम्पूर्ण मानव जाति के लिए, जीव जगत् के लिए है इसलिए जैनधर्म – सिद्धान्त – शास्त्र – अनुयायी वैशिवक सुख शान्ति की भावना भाते हैं। यथा – सम्पूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्र-सामान्य-तपोधनानाम्। देवस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञ, करेतु शान्ति भावन् जिनेदः॥ (114)

हे जिनेन्द्रदेव ! श्रद्धा से आपकी आराधना करने वाले आराधकों को, धर्म के आयतन – देव, शास्त्र, गुरु और तीर्थों की रक्षा करने वालों को, आचार्यों, सामान्य तपस्वियों,

मुनियों आदि सर्व संयमियों को, देश, राष्ट्र, मगर, प्रजा सभी को शान्ति प्रदान कीजिये ।

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु, बलवान् धार्मिको भूमिपालः ।
काले काले च सम्यक् वितरतु मधवा, व्याधयो यान्तु नाशम् ॥
दुर्भिक्षं चौरमारिः क्षणमपि जगतां, मासमभूज्जीव-लोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं, सर्व-सौख्य-प्रदायि ॥ (15)

हे प्रभो ! लोक में समस्त प्रजा का कल्याण हो, राजा बलवान् और धार्मिक हो, सर्व दिग्दिगन्त में समय—समय पर मेघ यथायोग्य जलवृष्टि करते रहें, कहीं भी अतिवृष्टि रूप प्रकोप न हो । मानसिक — शारीरिक बीमारियों का नाश हो, तथा लोक में जीवों को कभी भी क्षण — मात्र के लिए भी दुष्काल चोरी, मारी, रोग, हैजा, मिरगी आदि न हो । वीतराग जिनेन्द्र का धर्मचक्र जो प्राणियों के लिए सुखप्रदायक है, सदा प्रभावशाली बना रहे । हे विभो ! आपका जिनशासन सर्वलोक में विस्तृत हो, लोकव्यापी जिनधर्म कल्याणकारी हो ।

**हिन्दू, बौद्ध, इसाई, मुस्लिम धर्म में भी
नगन्तव -**

आरोह स्वरथे पार्थ, गाण्डीवं स्वकरे कुरु ।

निर्जिता मेदिनीमन्ये, निग्रन्थो यस्य सम्मुखे ॥ (महाभारत)

जब अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो रहे थे उस समय एक नग्न दिग्म्बर मुनिराज आ रहे थे । कृष्ण ने मुनिराज को देखकर कहा — अरे अर्जुन ! अब क्या देखता है, शीघ्र रथ पर सवार हो गाण्डीव को हाथ में लो । देख, यह अपने समक्ष निर्ग्रन्थ मुनिराज हैं । अभी युद्ध करने से मैं मानता हूँ पृथ्वी की विजय तुम्हारे हाथ में है ।

पदिमनी राजहंसस्य निर्ग्रन्था च तपोधना ।

यस्मिन् क्षेत्रे विचरन्ति सुभिक्ष तत्र निश्चयः ॥

सुलक्षणी पदिमनी स्त्री, राजहंस, निर्ग्रन्थ — तपोधन जिस क्षेत्र में विचरण करते हैं वहाँ निश्चय से सुख शान्ति, सुभिक्ष होते हैं । इससे सिद्ध होता है कि जैन साधु से न वर्षा कम होती है, न ही वे वर्षा को रोकते हैं । मेरा व्यक्तिगत अनुभव है, जहाँ पर जैन साधु — सन्तों का चारुमास, प्रवास होता है वहाँ प्रायः अच्छी वर्षा होती है । इससे सिद्ध होता है कि निर्ग्रन्थ रूप शुभ सूचक है एवं मंगलमय भी है ।

**नग्नत्वं सहजं लोके विकारो वस्त्रं वेष्टितम् ॥
(यशस्तिलकचम्पू)**

नग्नत्व विश्व में सहज रूप है, शरीर पर वस्त्र पहनना अपने विकार को ढांकना है। जब मनुष्य उत्पन्न होता है तब नग्न ही रहता है। बाल्यावस्था में भी नग्न रहता है। बालक की नग्नता को देखकर सब लोग प्रसन्न होते हैं। बालक कभी स्वयं की नग्नता के कारण किसी प्रकार की लज्जा का अनुभव नहीं करता। कपड़ा पहिनने की इच्छा नहीं रहती है।

वैदिक साहित्य में प्राचीनतम ऋग्वेद में नग्न साधु को 'वातवसना' शब्द द्वारा बताया है।

"मुनयो वातवसनाः पिशंग वसते माला" –
ऋग्वेदमंडल 10-2-1362

यजुर्वेद में महावीर भगवान् को नग्न बताते हुए उनकी उपासना को संशय, विपर्यय तथा अनध्यवसाय रूप रात्रि भय तथा धन, मद, शरीर मद आदि निवारक कहा है।

आतिथ्य रूपं मासर महावीरस्य नग्नहुः।
रुप्मुग्नसदामेत्र क्रिस्त्रो रात्रिं सुरः सुतः॥ यजुर्वेद अथात 19 मंत्र 14
एकाकी निःहृद शान्तं पाणिपात्रो दिगम्बरः।
कदाशम्भो ! भविष्यामि कर्म निर्मूलन क्षयः॥ भर्तृहरिशतक
हे शम्भो ! मैं कब अकेला, कामना रहित, शान्त,
करपात्री (हाथ में भोजन करना) दिगम्बर और बन्धन
निर्मूलन करने वाला कब होऊँगा। श्रमण वातवसन
(निग्रन्थ) आत्मविद्या में विशारद होते हैं।

मुण्डी नग्नो मयूराणां पिच्छीधारी महाव्रतः। मुण्डित,
नग्न, मयूर, पीछीधारी महाव्रतधारी मुनि होते हैं।
"नगणठेसु पिमे करे वियापटाहोहंति"

— अशोकस्तम्भ (दिल्ली फिरोजशाह कोटला
शिलालेख)
कटि सूत्रं च कौपीनं दण्डवस्त्रं कमण्डलम्।
सर्वमप्सु विसज्ज्याय जात रूप धरश्चरेत्॥

—(नारद परिव्राजक उपनिषद)
कटिसूत्र, कौपीन (लंगोट) दण्ड, वस्त्र, कमण्डल को
जल में विसर्जन करके जात रूप अर्थात् नग्नरूप को

धारण करके विचरण करना चाहिए।

हमारे इस्लाम धर्म वाले बन्धुओं ! देखिये शायर जलालुद्दीन ने दिगम्बर नग्न पद को दिव्यज्योति से अलंकृत बताते हुए कहा कि वस्त्रधारी व्यक्ति की दृष्टि तो धोबी की ओर रहती है—

“मस्त बोला मुहतसिब से काम जा होगा क्या नंगे से तु ओहदा बरा है। नजर धोबी पै जमापोस की है तजल्ली जेवर उरितातंनी।”

नग्न दरवेश तार्किक से कहता है — अरे भाई तू जा और अपना काम कर, तू दिगम्बर सा नहीं बन सकता, वस्त्र पहनने वाले की दृष्टि सदा धोबी की ओर रहती है। दिगम्बर की शोभा देवी प्रकाशरूप है। या तो तुम नग्न दरवेशी से कोई सम्बन्ध नहीं रखो अथवा उनके सदृश्य दिगम्बर और स्वाधीन बन जावो। यदि तुम पूर्णतया दिगम्बर नहीं बन सकते तो अपने वस्त्रों को थोड़े परिमाण में रखो।

आज से 300 वर्ष पूर्व शाहजहाँ बादशाह के राज्य में मुस्लिम सूफी फकीर मुहम्मद अली नग्न रूप में विहार

करता था। उसका मजार दिल्ली के जामा मस्जिद के बायाँ भाग में है। उसका कहना था कि परमात्मा जिस पर दोष देखता है उसे वस्त्र पहना देता है। किन्तु जो निर्दोष है उसे नग्न ही रहने देता है।

पोशाद लिबास हरकरा एबेदीक।

बे एबा रा लिबासे उरियानी दाद॥

अब्दुल कासिम जिलानी नामक मुस्लिम साधु नग्न दिगम्बर रहा करते थे। The higher saints of Islam called Abuls went about perfectly naked.

("Mysticism and magic in Turkey" by Miss huecy Mgonet)

अब देखिये ईसाई धर्म वालों के यहाँ नग्न साधु का महत्व—

बाइबिल में लिखा है — “आदम तथा उसकी पत्नी (ईव) नग्न उत्पन्न हुए थे तथा उद्यान में नग्न रहते थे उसके मन में लज्जा ने स्थान नहीं बनाया था। जब उन्होंने निषिद्ध के वृक्ष के फल को खाया तो उन्हें यह ज्ञान होने लगा कि वे नग्न हैं — And they (Adam and Eve) were bothe naked the man and his wife not

ashamed. - (Gensis 11-25)
When they are the fruit of the forbidden tree, they felt
and knew that they were naked. (Ibid 11-7-11)

बाइबिल में यह भी लिखा है कि "उसने अपने वस्त्र
भी अलग कर दिये और सेमुअल के समक्ष इस प्रकार
की घोषणा की तथा दिन—रात दिगम्बर रहा उस पर उन
लोगों ने पूछा, क्या साल भी पैगम्बरों से हैं ?"

And he stripped his clothes also and prophesised before Samuel in the like manner and they lay down naked all day and night. wherefore they said "Isaiah also among the prophets. (Samuel XIXI 24)

उसी समय प्रभु ने अमोज के पुत्र ईसाईयों से कहा
— जा तू भी अपने कपड़ों को दूर कर दे और जूतों का
उतार डाल। उसने ऐसा ही किया। वह नग्न हो नंगे पैर
फिरने लगा।

At the same time the lord spoke to the Isaiah the son of Amoz saying go and loose the sake clothes from off their loins and they put off their shoes from the foot and he did so walking naked and bare footed. - (Isaiah XX-2)

ईसाई साधु पीटर ने लिखा है। "हमें अपने पास कुछ भी

नहीं रखना चाहिए। परिग्रह हम सबके लिए पापरूप है।
इसका जैसे भी हों त्याग करना है। उसे पापों से बचाना
है। "To all of us possession are sins.... The deprivations of these in whatever way it may take place is the removal of sin." -(Clementine Homilies)

शंकराचार्य ने विवेक चूड़ामणि में लिखा है कि जिस
योगी के पास दिशा — रूपी वस्त्र होते हैं अर्थात् दिगम्बर
होते हैं, जिन्हें वस्त्रों को धोने की जरूरत नहीं रहती,
सुखाने की आवश्यकता नहीं रहती। उसको श्रेष्ठ अवस्था
में यह जीव पूर्ण निराकुल हो ब्रह्मदर्शन जनित आनन्द
प्राप्त करने में समर्थ होता है।

श्री रामकृष्ण कथामृत में लिखा है कि रामकृष्ण
बालक के समान दिगम्बर नग्न हैं, जिसके शरीर पर एक
धागा मात्र भी नहीं। उक्त स्वामीजी ने अपने अश्विनीकुमार
दत्त से कहा था कि मैं सभी भौतिक वस्तुओं को भूल
जाता हूँ, उस समय वस्त्र भी छूट जाता है।

स्वयं महात्मा बुद्ध कहते हैं कि मैं पहले नग्न निर्ग्रन्थ रहा,
अनिश्चित विहार किया, हाथ में आहार किया है। अनेक
दुरह (कष्ट) तपश्चरण किया है, इससे सिद्ध होता है कि

स्वयं बुद्ध निर्गन्थ थे परन्तु यह दिगम्बर (श्रमण मार्ग) कठिन होने से इस मार्ग को छोड़कर उन्होंने मध्यम मार्ग को अपनाया। — (त्रिपिटक से उद्धृत)

विशाख — वश्र धर्म पदथ कथा में लिखा है कि एक श्रेष्ठी के भवन में 500 दिगम्बर जैन साधुओं ने आहार ग्रहण किया था। 'महावग्ग' से विदित होता है कि वैशाली में दिगम्बर जैन साधुओं का विहार होता था। महापरिनिर्वाण सूत्र में भी दिगम्बर साधु का उल्लेख पाया जाता है। विनय पिटक में भी दिगम्बर साधु के विहार का उल्लेख है।

जिनेन्द्र, जैन, जिनशासन

जो स्वयं के अन्तरंग परम शत्रु स्वरूप मोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के ऊपर पूर्णतः विजय प्राप्त कर लेता है, उन्हें जिनेन्द्र (तीर्थकर, अरिहन्त, केवली) कहते हैं और उनके द्वारा कहा गया विश्वहितकारी सिद्धान्त को/धर्म को / शासन को जैनधर्म या जिनशासन कहते हैं; जिनेन्द्र की वाणी को जिनवाणी और उसके अनुसार पूर्वाचार्यों के द्वारा रचित ग्रन्थ को जिनागम / जिनवाणी / जैन शास्त्र कहते हैं। जो मनुष्य, पशु, देव,

नारकी, मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ के ऊपर आंशिक भी विजय प्राप्त करके जिनेन्द्र भगवान्, जिनागम, जैन शासन के श्रद्धान / विश्वास करता है, उसे जैन कहते हैं, जैन धर्म अनुयायी, गृहस्थ, श्रावक कहते हैं। जो इस श्रद्धान के साथ—साथ जैनागम के ज्ञान के आधार पर संसार से संन्यास लेकर समता से जिनेन्द्र बनने की साधना/श्रम/तप करते हैं उन्हें श्रमण/साधु कहते हैं। राजा — महाराजा — सम्राट — चक्रवर्ती तक को जिनेन्द्र / जैन श्रमण (साधु) बनने के लिए समस्त — सम्पत्ति — सेना आदि को परित्याग करना पड़ता है। अर्थात् भौतिक, सांसारिक शासन आदि के त्याग से ही जैन शासन के प्रवर्तक बनने की योग्यता प्राप्त हो सकती है अन्यथा किसी भी उपाय से सम्भव नहीं है। अतः "जैनम् जयतु शासनम्" का अर्थसत्ता — सम्पत्ति — शक्ति — सेना का शासन कदापि नहीं है अपितु अहिंसादि 5 व्रत, उत्तम क्षमादि 10 धर्म का शासन / प्रवर्तन / परिपालन / प्रचार / प्रसार है।

ऐसे शुद्ध, स्व-पर-विश्वकल्याणकारी जैन धर्म को प्राप्त करके भी जो स्वयं की किसी भी अन्तरंग—बहिरंग

दुर्बलताओं के कारण जैन धर्म के सिद्धान्त से विचलित / भ्रष्ट हो जाता है वह पुनः योग्य गुरुजन - गुणीजन के मार्गदर्शन से प्रायश्चित लेकर फिर जैनधर्म के सिद्धान्त का पालन करके जैनी बन सकता है। यदि ऐसा नहीं करता है तो वह यथार्थ से जैन नहीं है। प्रसिद्ध उदाहरण है कि जैनधर्म के इस युग के प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव के पोता एवं प्रथम चक्रवर्ती भरत के बेटा भी जब ऋषभदेव के समवशरण में भाव से विचलित / मलिन हो गया तब वह समवशरण से बाहर हो गया तथा जैनधर्म से च्युत हो गया। ऐसा ही प्रत्येक व्यक्ति के लिए जान लेना चाहिए, भले कोई व्यक्ति शरीर से अलग भी नहीं हुआ या उसे अलग नहीं किया गया तथापि वह भाव से जैन नहीं हो सकता है। यहाँ तक कि यदि कोई बाहर से जैन धर्म की क्रियाओं को पालन करता है परन्तु अंतरंग भाव में उपरोक्त जैनधर्म के गुण - धर्म - विशेषतायें नहीं हैं तो वह भी यथार्थ से जैन नहीं है। जैनधर्म मुख्यतः पवित्र भाव प्रधान है। भाव पवित्रता से युक्त होकर सदाचार को पालन करना जैनधर्म का सार है। प्रायः जैनीओं में जो आर्थिक सम्पत्ता पाई जाती है

उसके लिए निम्नोक्त कारण भी सहयोगी हैं। यथा - पूर्वजन्म के पुण्य, वर्तमान के पुरुषार्थ, बचत, मद्य, मांस, बिड़ी, सिगरेट, तम्बाखू, नशीली वस्तुओं का सेवन नहीं करना जिससे धन बच जाता है, उससे होने वाले रोगों से बचने से उसकी चिकित्सा में खर्च होने वाला धन भी बच जाता है, शरीर - मन - परिवार स्वास्थ्य, सबल कार्यक्षम होने से धनार्जन भी होता है, दान - दया - परोपकार, गुरुओं को आहार देना, उनकी सेवा - व्यवस्था से पुण्यार्जन होने से उससे धनागम भी होता है, उपार्जित धन से व्यापारादि अधिक करते हैं जिससे और भी अधिक धनागम होता है। ऐसे नहीं है कि हर जैनी धनी होते हैं, अनेक जैन मध्यम से लेकर गरीबी रेखा के नीचे भी पाये जाते हैं।

मुद्दाव एवं आह्वान - जैन धर्म के सूक्ष्म - व्यापक - गूढ़ शब्द, पद, सूत्र, सिद्धान्त के रहस्य को जाने बिना यदि कोई जैन धर्म का विरोध करता है तो वह अनुचित है; अनधिकार चेष्टा है। कोई नामधारी जैन के दोष के कारण जैन धर्म को जैन समाज को भी दोषयुक्त मानना भी अयोग्य है। एक निर्दोष व्यक्ति का अपमान सम्पूर्ण

मानव समाज का अपमान है। किसी भी सच्चा धर्म का अपमान करना स्व अन्तरात्मा का अपमान है। भारत एक सार्वभौम, लोकतन्त्रात्मक, समाजवादी देश है। यहाँ के हर नागरिकों को स्व-स्वविश्वास के अनुसार अपना-अपना धर्म पालन करने का पूर्ण अधिकार है। भारत में किसी भी जाति, धर्म, भाषा को लेकर भेदभाव करना संवैधानिक, कानूनी अपराध है।

जिज्ञासा शान्त नहीं हुई या अधिक जानना चाहते हैं तो जैनधर्म के विशिष्ट, सच्चे विद्वान् से अध्ययन करें। सन्नम्र सत्यग्राही भी मेरे (आचार्य कनकनन्दी) पास आकर अध्ययन, शंका समाधान कर सकते हैं। अन्यथा अज्ञानता, संकीर्णता, द्वेष, ईर्ष्या, वैरत्व, प्रतिशोध की भावना से कुछ कहना — लिखना — करना स्व-पर-विश्व अहितकारक है। स्व-पर-विश्वकल्याण /सुख/शान्ति के लिए सबको सत्य, समता, न्याय, समन्वय के मार्ग पर ही चलना अनिवार्य है। यह मेरा शुभ सुझाव एवं आह्वान व्यक्ति, समाज, संस्था, संगठन, मण्डल, अभियान, साधु—सन्त, पण्डित, मत, पन्थ, राष्ट्र, विश्व के लिए है।

अन्त में निम्नोक्त भावनाओं के साथ —

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामया ।
सर्वेभद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग् भवतु ॥
प्रध्वस्त घाति कर्माणः, केवलज्ञान भास्कराः ।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं, वृषभाद्या जिनेश्वराः ॥
ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति ! ॐ शान्ति !
सत्य — समता — शान्ति के उपासक —
आचार्य कनकनन्दी
हथाई (राज.) प्रवास में
दि. 19/6/2010, रात्रि 12 बजे

अन्तरंग सफलता के सूत्र

जैसाकि आकाश का इन्द्रधनुष जलकण एवं सूर्यप्रकाश से निर्मित होने से जलकण या सूर्य-किरण के अभाव से इन्द्रधनुष नाश हो जाता है किन्तु आकाश नहीं वैसा ही भौतिक उपलब्धियाँ भौतिकता के नाश से विलीन हो जाती है किन्तु आध्यात्मिक उपलब्धियाँ नहीं।

—आ.कनकनन्दी

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर की दृष्टि में जैन धर्म की विशेषतायें।

भारत में जितने भी धार्मिक सम्प्रदाय विकसित हुए, उनमें से अहिंसावाद को उतना महत्व किसी ने भी नहीं दिया, जितना जैन धर्म ने दिया है। बौद्ध धर्म में, फिर भी, अहिंसा की एक सीमा है कि स्वयं किसी जीव का वध न करो, किन्तु, जैनों की अहिंसा बिल्कुल निस्सीम है। स्वयं हिंसा करना, दूसरों से हिंसा करवाना या अन्य किसी भी तरह से हिंसा में योग देना, जैन धर्म में सबकी मनाही है, और विशेषता यह है कि जैन – दर्शन केवल शारीरिक अहिंसा तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत, वह बौद्धिक अहिंसा को भी अनिवार्य बताता है। यह बौद्धिक अहिंसा ही जैन – दर्शन का अनेकान्तवाद है।

अहिंसा का आदर्श, आरम्भ से ही, भारत के समक्ष रहा था, किन्तु, उसकी चरम – सिद्धि, इसी अनेकान्तवाद में हुई। इस सिद्धान्त को देखते हुए ऐसा लगता है कि संसार को, बहुत आगे चलकर, जहाँ पहुँचना है, भारत वहाँ पहले ही पहुँच चुका था। संसार में आज जो अशांति है, रह – रहकर विश्व में युद्ध के जो खतरे

दिखायी देने लगते हैं, उनका कारण क्या है ? मुख्य कारण यह है कि एक वाद के मानने वाले लोग दूसरे वादों के मानने वालों को आँख मूँदकर गलत समझते हैं, और प्रजातन्त्र के समर्थकों की दृष्टि में सारी गलती साम्यवादियों की है। इसी प्रकार, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जो कोलाहल है, उसका मूल कारण यह है कि लोग विरोधी मतों के प्रति अत्यन्त असहनशील हो गये हैं और तब भी, सत्य यह है कि कोई भी मत सोलह आने सत्य या सोलह आने असत्य नहीं है। चीजें एक बिन्दु से जैसी दिखाई देती हैं दूसरे बिन्दु से ठीक वैसी ही दिखायी नहीं देती। अतएव आँख मूँद कर किसी मत को सर्वथा खण्डित करने का कार्य हिंसा का कार्य है। अनेक मतों में किसी एक को पकड़ कर बैठ जाना और यह मान लेना कि और सारे मत झूठे हैं, इस विद्या का अहंकार कहना चाहिए। सत्य क्या है, इस जानने का कोई एक मार्ग नहीं है और सत्य के मार्ग पर आए हुए व्यक्ति की सबसे बड़ी पहचान भी यही है कि उसका दुराग्रह छूट जाता है। जो सच्चे अर्थों में सन्त हैं, वे अपने ऊपर भी शंका करते हैं और एक सिद्धान्त को मानते हुए भी, वे

यह भाव बनाये रहते हैं कि, संभव है, अन्य सिद्धान्तों में भी सत्य का कोई अंश हो, जो हमें दिखायी नहीं पड़ा है। समन्वय, सहअस्तित्व और सहिष्णुता, ये एक ही तत्त्व के अनेक नाम हैं। इसी तत्त्व को जैन – दर्शन शारीरिक धरातल पर अहिंसा और मानसिक धरातल पर अनेकान्त कहता है। जीवों को कष्ट नहीं देना, यह शारीरिक अहिंसा की पहचान है। किन्तु, जो चिन्तक और मनीषी हैं, वे जब आँख मूँद कर विरोधी मतों पर प्रहार करते हैं, तब उनका भी यह कार्य हिंसा का कार्य होता है। जन – साधारण को जीव – हिंसा से बचने के लिए जैन – दर्शन ने अहिंसा का उपदेश दिया, किन्तु, चिन्तकों और विचारकों को हिंसा – कर्म से विरत करने के लिए उसने अनेकान्तवाद का सिद्धान्त निकाला और यह उचित भी है, क्योंकि निचले स्तर पर तो मतों, वादों और विचारों को लेकर, जोर से, बहस की जा सकती है, किन्तु विचारक जब अत्युच्च धरातल पर पहुँचते हैं, तब वे किसी भी बात को पूरे जोर से नहीं कह सकते, न बहस करते समय उनकी आँखों में मशाल ही जलती है। मनुष्य का ज्ञान अपूर्ण है और ऐसी कोई राह नहीं है,

जिस पर चलकर एक ही व्यक्ति सत्य के सभी पक्षों की जानकारी प्राप्त कर सके। इसीलिए, हम जो जानते हैं, वह ठीक है। किन्तु उतना ही ठीक वह व्यक्ति भी हो सकता है, जो हमारे विरुद्ध खड़ा है। अतएव, सच्चा अहिंसक विचारक किसी भी बात को बहुत जोर से नहीं कहता (अपने मतों को इस जोर से रखना, मानों, केवल वे ही ठीक हों यह अहंकार का प्रदर्शन है, यह हिंसा और अधर्म है।

अनेकान्तवाद का दार्शनिक आधार यह है कि 'प्रत्येक वस्तु अनन्त गुण, पर्याय और धर्मों का अखण्ड पिण्ड है। वस्तु को तुम जिस दृष्टिकोण से देख रहे हो, वस्तु उतनी ही नहीं है। उसमें अनन्त दृष्टिकोणों से देखे जाने की क्षमता है। उसका विराट् स्वरूप अनन्त धर्मात्मक है। तुम्हें जो दृष्टिकोण विरोधी मालूम होता है, उस पर ईमानदारी से विचार करो तो उसका विषयभूत धर्म भी वस्तु में विद्यमान है। चित्त से पक्षपात की दुरभिसन्धि निकालो और दूसरे के दृष्टिकोण के विषय को भी सहिष्णुतापूर्वक खोजो, वह भी लहरा रहा है। "इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनेकान्त का अनुसंधान भारत की

अहिंसा – साधना का चरम उत्कर्ष है और सारा संसार इसे जितना ही शीघ्र अपनाएगा, विश्व में शान्ति भी उतनी ही शीघ्र स्थापित होगी। अहिंसा की चरम मानसिक सिद्धि अनेकान्तवाद है, जो हमें यह चेतावनी देता है कि बहस के समय अपनी आँखों को लाल मत बनाओ, न कभी इस भाव को मन में स्थान बनाने दो कि तुम जो कुछ कहते हो, एक मात्र वही सत्य है। किन्तु, मन के इस अहिंसायुक्त भाव को हम भाषा में किस प्रकार प्रकट कर सकते हैं? इस जिज्ञासा का समाधान जैन – दर्शन ने स्याद्वाद से किया। अनेकान्त चिन्तन की अहिंसामयी प्रक्रिया का नाम है और स्याद्वाद उसी चिन्तन की अभिव्यक्ति की शैली को कहते हैं। अर्थात् अनेकान्तवाद का सम्बन्ध मनुष्य के विचार से है, किन्तु स्याद्वाद उस विचार के योग्य अहिंसायुक्त भाषा की खोज करता है। स्याद्वाद के अनुसार, सच्चा अहिंसक यह नहीं कहेगा कि “यह बात सत्य है,” उसके मुख से बराबर यही निकलेगा कि “स्यात् यह ठीक हो।” (संस्कृति के चार अध्याय पृष्ठ 114)

30

प्रस्तुत कृति के अंतरंग एवं उद्देश्य

कथञ्चित् मौन से भी श्रेष्ठ सत्य कथन – समतापूर्वक, मन – वचन – काय से मौनपूर्वक ध्यान – अध्ययन – साधन – लेखन आदि करना श्रेष्ठ है तथापि विशेष परिस्थितियों एवं आवश्यकता के अनुसार हितकर सत्य वचन बोलना मौन से भी श्रेयस्कर है। इसलिए मनुस्मृति में कहा है – मौनात्सत्यं विशिष्यते। जैनाचार्य ने भी कहा है –

मौनमेव हितं पुंसां शशवत्सर्वार्थसिद्धये।

वचोवाचि प्रियं तथ्यं सर्वसत्त्वोपकारियत्॥ (6)

पुरुषों को प्रथम तो समस्त प्रयोजनों का सिद्ध करने वाला निरन्तर मौन ही अवलम्बन करना हितकारी है और यदि वचन कहना ही पड़े तो ऐसा कहना चाहिए जो सबको प्यारा हो, सत्य हो और समस्तजनों का हित करने वाला हो।

धर्मनाशो क्रियाध्वन्से सुसिद्धान्तार्थं विप्लवे।

अपृष्टैरपि वक्तव्यं तत्स्वरूपं प्रकाशने॥ (ज्ञानार्णव)

जब जहाँ सत्य धर्म का नाश होता हो, यथार्थ क्रिया

31

का धन्स होता हो, समीचीन सिद्धान्त – 'अर्थका अपलाप, विनाश होता हो उस समय सम्यक् धर्म क्रिया और सिद्धान्त के प्रचार – प्रसार, सुरक्षा के लिए बिना पूछे भी सज्जनों को बोलना चाहिए क्योंकि इससे धर्म की रक्षा होती है जिससे स्व-पर-राष्ट्र की सुरक्षा समृद्धि होती है।

अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् ।
जिनशासन माहात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना ॥ (18)

अज्ञानरूपी अन्धकार के विस्तार को दूर कर अपनी शक्ति के अनुसार जिनशासन के अनुसार माहात्म्य को प्रकट करना प्रभावना गुण है।

रूसउ वा परो मा वा, विसं वा परियतउ ।
भासियव्वा हिया भासा सुपक्खगुण करिया ॥

(श्वे.साहित्य)

जिसे उपदेश दिया जाता है, वह चाहे रोष करे, चाहे उपदेश को विषरूप समझे परन्तु उपदेशक को हितरूप वचन अवश्य कहना चाहिए।

न भवति धर्मः श्रोतुः सर्वस्यैकान्ततो हित श्रवणात् ।
ब्रुवतोऽनुग्रहबुद्ध्या वक्तुस्त्वेकान्ततो भवति ॥

उपदेश सुनने वाले सभी श्रोताओं को पुण्य नहीं होता है क्योंकि जो उपदेश अच्छी भावना से सुनता है, उसे पुण्य होता है। जो शुभ भावना से नहीं सुनता है, उसे पुण्य नहीं होता है, परन्तु जो परोपकार की भावना से अनुग्रहबुद्धि से हितकर उपदेश करता है उसे अवश्य ही पुण्य होता है।

इसीलिए तो पञ्चनमस्कार मंत्र में सिद्ध भगवान् के पहिले अरिहन्त भगवान् को नमस्कार किया गया भले सिद्ध भगवान् अरिहन्त भगवान् से भी श्रेष्ठ है। क्योंकि सिद्धभगवान् उपदेश नहीं देते हैं तथा अरिहन्त भगवान् उपदेश देते हैं। इसीलिए तो मार्गदर्शक—हितोपदेशी गुरु का स्थान सर्वोपरि है। ज्ञानदान/हितोपदेश को सबसे बड़ा पापरहित दान कहा गया है और ज्ञानदानी को गुरु कहा गया है। आहार, औषधि, अभयदान करने वाले दानी, पुण्यात्मा होते हुए भी गुरु नहीं है, गुरु के जैसे श्रेष्ठ, ज्येष्ठ, पूजनीय नहीं है। यदि तीथकर, केवली, गणधर, आचार्य, उपाध्याय, साधु, शिक्षक, समाज

सुधारक, महान् क्रान्तिकारी नेता, माता—पिता आदि
हितोपदेश, शिक्षा, मार्गदर्शन नहीं देंगे तो मानव समाज
का विकास ही रुक जाएगा।

हित—मित—प्रिय या हित—अमित—अप्रिय —

सामान्य जन के लिए सामान्य परिस्थिति में तो हित
— मित — प्रिय — वचन ही श्रेष्ठ हैं परन्तु विशेषजन
(हिताकांक्षी, सहादयी, गुरु, माता—पिता, अभिभावक, डॉक्टर,
वैद्य, न्यायाधीश आदि) के लिए विशेष परिस्थिति में
विशेष, विशेष व्यक्तियों के लिए हित — मित — प्रिय से
भी हित — अमित — अप्रिय वचन श्रेयस्कर है, श्रेष्ठ है,
कथनीय है। जैसा कि —

गुरु कुम्हार कुम्म शिष्य है, गढ़ — गढ़ काढ़े खोट।
अन्दर हाथ पसारकर, ऊपर मारे चोट॥
परोपकारायददाति गौः पयः, परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः।
परोपकाराय वहन्तिनद्यः, परोपकाराय सतां प्रवृत्तिः॥
जैसा कि रोग को दूर करने वाली कड़वी औषधि, रोग
को वृद्धि करने वाले मिष्ठान से भी श्रेष्ठ है, उसी प्रकार

हिताकांक्षी — हितोपदेशी, सच्चे—अच्छे गुरु के कटुवचन
भी उन ठग, वैश्या, चाटुकार के मधुर — प्रिय वचन से
भी अधिक श्रेष्ठ है, सत्य है, ग्राह्य है। गुरु भी यदि शिष्य
के हित के लिए कठोर वचन नहीं बोलते हैं तो कुण्डुर है।
यथा —

दोषान् कांश्चन तान्नवर्तकया प्रच्छाद्य गच्छत्ययं,
सार्धं तैः सहसा भ्रियेद्यदि गुरुः पश्चात् करोत्येष किम्।
तस्मान्मे न गुरुर्गुरुरुतरान् कृत्वा लघूंश्च स्फुटं,
ब्रूते यः सततं समीक्ष्य निपुणं सोऽयं खलः सदगुरुः॥ (141)

कोई व्यक्ति गुरु प्रवृत्ति कायम रखने के अभिप्राय से
शिष्य में विद्यमान दोषों को छिपाता है और यदि उन
दोषों के रहते हुए ही शिष्य का मरण हो जाए तो गुरु
क्या करेगा ? इसीलिए ऐसा गुरु मेरा गुरु नहीं है तथा
जो मेरे दोषों को देखने में प्रवीण अर्थात् निरन्तर मेरे
दोषों को अच्छी तरह देखने वाला और मेरे थोड़े दोषों को
भी बढ़ा चढ़ाकर कहने वाला दुर्जन भी मेरा सच्चा गुरु
है।

गुरु के कठोर वचन भी हितकारी हैं -

विकाशयन्ति भव्यस्य मनोमुकुल मंशवः।
खेरिवारविन्दस्य कठोराश्च गुरुक्तयः॥ (142) आत्मा.

जिस प्रकार सूर्य की किरणें भी कमल को प्रफुल्लित करती हैं, उसी प्रकार गुरु की कठोर वाणी भी भव्यजीव के मन को प्रफुल्लित करती है।

गुणागुणविवेकिभिर्विहितमप्यलं दूषणं,
भवेत् सदुपदेशवन्मतिमतामति प्रीयते।
कृतं किमपि धार्ष्यत् स्तवनमप्यतीर्थोषितेः
न तोषयति तन्मनांसि खलु कष्टमज्ञानता॥ (144) आत्मा.

गुण – दोष के विवेक से युक्त सत्पुरुषों द्वारा अपने दोष अधिकता से प्रगट करना भी बुद्धिमान् जीवों को भले उपदेश के समान अत्यन्त प्रीति उत्पन्न करने वाला होता है और धर्मतीर्थ का सेवन न करने वाले (दुष्ट पुरुषों) द्वारा धीरता से किया गया गुणानुवाद भी उन बुद्धिमान्, विवेकी जीवों को सन्तोष उत्पन्न नहीं करता। परन्तु तुझे (शंकाकार को) अन्यथा भासित होता है, तेरी इस अज्ञानता से हमें खेद होता है।

त्यक्तहेत्वन्तरापेक्षौ गुणदोष निबन्धनौ।

यस्यादानपरित्यागौ स एव विदुषां वरः॥ (145)

अन्य कारणों की अपेक्षा छोड़कर जो जीव गुणों और दोषों के कारण ही ग्रहण और त्याग करते हैं, वे ही ज्ञानियों में श्रेष्ठ हैं।

हितं हित्वाऽहिते स्थित्वा दुर्धीर्दुःखायसे भृशम्।

विपर्यये तयोरेषि त्वं सुखायिष्यसे सुधीः॥ (146)आत्मा.

हे जीव ! तू दुर्बुद्धि होता हुआ हित को छोड़कर अहित में स्थित रहकर अपने को अत्यन्त दुःखी करता है, इसलिए अब इसका उल्टा कर। अर्थात् सुबुद्धि होता हुआ अहित को छोड़कर हित में स्थित रहते हुए उसी की वृद्धि कर ! इससे तू अपने स्वाभाविक सुख को प्राप्त करेगा।

प्राचीन महान् हितोपदेशी आचार्यों ने भी कभी–कभी शिष्यों को सुधारने के लिए कठोर वचनों का प्रयोग किया है। इसके साथ–साथ ही कोई विषय यदि शिष्य को समझ में नहीं आता है तो अनेक बार (अमित) समझाया है। समयसार जैसे आध्यात्मिक ग्रन्थ तक में

भी अनेक उदाहरणों के माध्यम से अनेक गाथाओं में एक ही विषय को समझाया गया है। किन्तु सामान्य व्यक्ति अहितकर वचन, विकथा आदि वाचालता से करते हैं तथा आर्तध्यान, रौद्रध्यान से युक्त होकर अप्रिय बोलते हैं, इसलिए उनको इस दुष्प्रवृत्ति से निवृत्त होने के लिए तो हित के साथ—साथ मित एवं प्रिय ही बोलना चाहिए।

उपर्युक्त समस्त कारणों से प्रेरित होकर मैं सर्वप्रथम स्वयं की कमियों को दूर करके आदर्श बनने के साथ—साथ परोपकार की भावना से प्रेरित होकर व्यक्ति से लेकर समाज — राष्ट्र — विश्व की कमियों को दूर करके आदर्श बनाने के महान् — उदार — उदात्त उद्देश्य से शिक्षा, विज्ञान, धर्म, मानव, समाज, राष्ट्र, राजनीति, कानून, अन्तर्राष्ट्र (विश्व) की कमियों के बारे में लिखता हूँ कहता हूँ तथा यथायोग्य, यथापरिस्थिति, आवश्यकता के अनुसार परिशोधन के लिए सम्यक् पुरुषार्थ भी करता हूँ जिसके सुपरिणाम भी विभिन्न क्षेत्र में प्राप्त हो रहे हैं। सक्षिप्ततः मैं यह सब “स्व—पर—विश्व सुखाय आत्मकल्याणार्थ” कर रहा हूँ। जैन धर्म की दृष्टि से यह सब मैं उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, प्रभावना के

लिए निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि अंग को हृदय में रख करके कर रहा हूँ।

मेरा स्वभाव “गुणगणकथा दोषवादे च मौनं” होने के कारण मैं देश—विदेशों के धर्म, दर्शन, विज्ञान, संविधान, राजनीति, कानून, इतिहास, नीति, परम्परा, महापुरुष आदि के सच्चे—अच्छे गुणों को स्वीकार करता हूँ, लेखन, प्रवचन आदि में उद्धृत करता हूँ तथा इन सब में समीक्षात्मक समन्वय भी करता हूँ। यह सब होते हुए भी जो सत्य, समता, समन्वय, एकता, शान्ति, न्याय, प्रगति, पवित्रता, उदारता, सहिष्णुता, अहिंसा, सहज सरलता, संवेदनशीलता, प्रगतिशीलता, सहअस्तित्व, परोपकार, सदाचार आदि के विपरीत या विनाशक अथवा विकृत कारक शिक्षा से लेकर कानून, तर्क, पक्ष, मत आदि हैं, उसके परिशोधन, परिवर्तन के लिए लेखन आदि कर रहा हूँ।

जैन धर्म में अन्य धर्म के देवों का अनादर नहीं

यो विश्वं वेद वेदां जनन जलनिधेर्मग्निः पारदृशवा,
पौर्वापर्याविरुद्धं वचनमनुपमं निष्कलंकं यदीयम् ।
तं वंदे साधुवंद्यं सकलं गुणं निधिं ध्वस्तदोषद्विषन्तं,
बुद्धं वा वर्धमानं शतदलं निलयं केशं वा शिवं वा ॥ (9)
अ.स्त्रोत

जो विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान को जान लिया अर्थात् विश्व विद्या विशारद है। जो जन्म-जरा-मरण रूपी समुद्र को नष्ट कर लिया है, पार कर लिया। जिनके वचन पूर्वापर विरोध से रहित, सम्पूर्ण दोषों से रहित, उपमा रहित है, सम्पूर्ण गुणों की खान स्वरूप समस्त दोषों को ध्वस्त कर लिया है और साधुओं से भी वंदनीय ऐसी आत्मा को वंदना है, भले ऐसे गुण सहित बुद्ध हो, महावीर हो, वर्धमान हो, ब्रह्मा हो, विष्णु हो, या शिव हो। हरिभद्र सूरि ने लोकतत्त्व निर्णय में कहा है —

पक्षपातो न मे वीरो, न द्वेष कपिलादिषु ।

युक्तिमद्वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥

मेरा वीर जिनेन्द्र में पक्षपात नहीं है, एवं कपिलादि में द्वेष नहीं है, किन्तु जिसका वचन युक्तियुक्त, तर्क संगत, परस्पर अविरोध, इहलोक और परलोक का हितकारी है, उन्हीं का वचन ग्रहण करने योग्य है, अन्य का नहीं।

‘आहंत’ धर्म के प्रवर्तक जैनों के प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव हैं। प्रथम होने के कारण इन्हें ‘श्री आदिनाथ’ भी कहा जाता है। श्रीमद्भागवत् में योगेश्वर वातरशना एवं श्रमण ऋषियों में ऊर्ध्वगामी कहे गये हैं। “वातरशनानां श्रमणाना मृषीणामूर्धवर्मन्थिना शुक्ल्या तनुवावतार ॥” (भा. 5/3/20) / भागवत् के ही अनुसार ‘श्री वासुदेव’ (नारायण) का आठवां अवतार श्री नाभिराजा की भार्या महारानी ‘मरुदेवी’ की कोख से ‘श्री ऋषभदेव’ के रूप में हुआ और उसने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत मार्ग दिखलाया।

अष्टमे मेरुदेव्या तु नाभेजति उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वा श्रमनमस्कृतम्॥ (1/3/13)

इसीलिए श्री ऋषभदेव को मोक्ष धर्म की विवक्षा से वासुदेवांश कहा गया है। (भा.11/2/16)

श्री ऋषभदेव को योगेश्वर लिखा है (भा. 5/4/3)। श्री ऋषभदेव को एक सौ पुत्र थे, उनके नौ आत्म विद्या – विशारद थे (भा. 11/2/20)। ज्येष्ठ पुत्र भरत महायोगी थए (भा. 5/4/9)। महाभारत में “हिरण्यगर्भ” ही योग का पुरातन विद्वान् है, दूसरा नहीं (शा. पर्व 349–65)। भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख हिरण्यगर्भ के नाम से हुआ है। “यजुर्वेद” में कहा है कि “ऋषभ” धर्म प्रवर्तकों में ज्येष्ठ है।

वृषभोऽसि जगज्ज्येष्ठ पुरुः पुरुगुणोदयैः।
नाभेयो नाभि संभूतेरिक्ष्वाकु कुलनन्दनः॥ (75)

जै.आ.पुरान

- जगत् में श्रेष्ठ हैं इसलिये ‘वृषभ’ कहलाते हैं।
- अनेक उत्तम गुणों का उदय होने से ‘पुरु’ कहलाते हैं।
- नाभिराज से उत्पन्न हुए हैं, इसलिये ‘नाभेय’ कहलाते हैं।
- इक्ष्वाकुकुल में उत्पन्न हुए हैं, इसलिये “इक्ष्वाकुकुल नन्दन” कहलाते हैं।

“भगवान् ब्रह्मसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एवं विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः काले नानुगतं धर्ममाचरणोपक्षियन्तद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशः प्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत् (14) श्रीमद् भागवत्

भगवान् वृषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ परम्परा से रहित केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए उन्होंने काल के

विश्व हितकारी जैन धर्म का स्वरूप

धर्म कर्म निवर्हणं संसार दुःखतः

सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे । (रत्नकरण्ड श्रावकाचार)

अर्थात् धर्म संसारी जीवों को समस्त मानसिक शारीरिक एवं आध्यात्मिक दुःखों के कारणभूत कर्मों का नाश करके अनन्त सुख में धारण कराता है। इससे सिद्ध होता है कि धर्म के माध्यम से अधिदैविक, अधिभौतिक एवं आध्यात्मिक तथा इहलोक, परलोक आदि के भय एवं दुःखों से निवृत्ति होती है एवं जीव को शाश्वतिक, अतीन्द्रिय, आध्यात्मिक अनन्त सुख प्राप्त होता है। कहा भी है – यस्मात् अभ्युदय निश्रेयस् सिद्धिः स धर्मः।

जिससे स्वर्गादि का अभ्युदय सुख एवं निर्वाण रूपी परम सुख की सिद्धि होती है, उसको धर्म कहते हैं। कहा है – “धर्मः सर्वसुखाकरो हितकरो” अर्थात् – धर्म सर्व प्रकार के सुख को देने वाला है, धर्म से ही निर्वाण अथवा मोक्ष सुख मिलता है। इसलिये हे ! सुख इच्छुक भव्य जीवों ! धर्म को ही संचित करिए। धर्म को छोड़कर संसारी जीवों का कोई भी हित करने वाला नहीं है। धर्म

अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगों को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृदय और कारूणिक रहकर धर्म, अर्थ, यश, सन्तान, भोग–सुख और मोक्ष का संग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम में लोगों को नियमित किया।

नित्यानुभूतनिजलाभनिवृत्ततृष्णः,

श्रेयस्यतद्रचनया चिरसुप्तबुद्धे ।

लोकस्य यः करुणायाभयमात्मलोक-

माख्यान्मो भगवते ऋषभाय तस्मै (19) भा.पु.

निरन्तर विषय—भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्म लोक का उपदेश किया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्म-स्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है। (अथ षष्ठोङ्घायाः श्री भा. पुराणम् १)।

का मूल दया है अर्थात् करुणा या अहिंसा है। धर्म से ही मैं अपने चित्त को प्रतिदिन लीन करता हूँ। हे जगत् उद्धारक ! सुख-शांतिप्रदाता ! धर्म मेरा पालन कीजिये। पवित्र क्रियते येन येनैव ध्वियते जगत्। नमस्तस्मै दयाद्राय धर्म कल्पाङ्गिघपायवै ॥

जिससे जीव पवित्र हो जाता है और जो विश्व को धारण करता है, दया से आद्र धर्म रूपी कल्पवृक्ष के चरण को मैं नमस्कार करता हूँ, अर्थात् धर्म से ही पतित जीव पावन हो सकता है, दानव, मानव बन सकता है, मानव महामानव और भगवान् बन सकता है। यह सम्पूर्ण चराचर विश्वधर्म पर आधारित है।

धर्मो गुरुश्च मित्रं च धर्मः स्वामी च बांधवः। अनाथ वात्सल सोऽयं यः त्राता कारणं विना ॥

धर्म ही गुरु है, मित्र है, स्वामी है, बंधु है, अनाथ का रक्षक है और बिना स्वार्थ के रक्षण करने वाला है।

धर्मो मंगलमुकिङ्दुं अहिंसा संजमो तवो । देवा हि तस्स पणमंति जस्स धर्मे सयामणो ॥

धर्म ही लोक में उत्कृष्ट मंगल है, अहिंसा धर्म है, संयम धर्म है एवं तप धर्म है। जिसका मन सर्वदा धर्म में लीन रहता है, उसको स्वर्ग के देव भी नमस्कार करते हैं। वत्थु सहावो धर्मो, अहिंसा खमादि आद धर्मो। रयणत्तयं च धर्मो अणेयंत सुभावणा धर्मो ॥

वस्तु का स्वभाव धर्म है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एवं उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन, ब्रह्मचर्य से आत्म धर्म हैं। रत्नत्रय अर्थात् सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यग्चारित्र धर्म है। अनेकांत (स्याद्वाद) बारह भावना एवं मैत्री, प्रमोद, करुणा एवं माध्यस्थ भाव भी धर्म हैं। इस संक्षिप्त गाथा सूत्र में जो धर्म की विभिन्न परिभाषायें दी गई हैं, शब्दतः पृथक-पृथक होते हुए भी भाव से एक ही है। इसमें प्रायः विश्व में प्रचलित संपूर्ण सम्प्रदाय की धार्मिक परिभाषाएं गर्भित हैं। वस्तु - स्वभाव धर्म यह सामान्य परिभाषा है। चेतन - अचेतन द्रव्य में जो स्व-स्वभाव है, वही धर्म है, जैसे पुद्गल का धर्म जडत्व एवं जीव का धर्म चेतनत्व है। इस गाथा में सम्पूर्ण

परिभाषाएं चेतन द्रव्य अर्थात् जीव द्रव्य का स्वभावरूप धर्म की परिभाषाएं हैं। उपर्युक्त धर्म से समस्त शारीरिक, मानसिक, पारिवारिक, भौतिक, सामाजिक, सुख से लेकर आत्मोत्थ अनंत अक्षय आध्यात्मिक सुख की उपलब्धि होती है। उपर्युक्त अध्यात्मिकता/धर्म से विपरीत अधर्म से विभिन्न दुःख / रोग उत्पन्न होते हैं। यथा –
हिंसादिष्विहामुत्रापायावद्यदर्शनम् ॥

The destructive or dangerous (and) censurable (character of the 5 faults) injury, etc. in this (as also) in the next world (ought to be) meditated upon.

हिंसादिक पाँच दोषों में ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन भावने योग्य है।

अभ्युदय और निःश्रेयस् के साधनों का नाशक अपाय है, या भय ना नाम अपाय है। अभ्युदय (स्वर्गादि इहलौकिक संपदा) और निःश्रेयस् (मोक्ष) की क्रिया एवं साधनों के नाशक अनर्थ को अपाय कहते हैं। अथवा इहलोक भय, परलोक भय, मरणभय, वेदना भय, अगुप्ति भय, अनरक्षक भय, अक्सम्मात् भय इन सात प्रकार के भय को अपाय कहते हैं।

गर्ह्य निंदनीय को अवद्य कहते हैं। ऐसा चित्तवन करना चाहिये कि हिंसक नित्य उद्विग्न रहता है। सतत अनुबद्ध वैर वाला होता है। इस लोक में वध (मारण) – बंधन, क्लेश आदि को प्राप्त करता है और मरकर परलोक में अशुभ गति में जाता है और लोक में भी निंदनीय होता है। अतः हिंसा से विरक्त होना ही कल्याणकारी है। मिथ्यावादी (भाषी) को कोई विश्वास नहीं करता है। असत्यवादी इस लोक में जिह्वाच्छेद आदि के दण्ड को भोगता है, जिसके सम्बन्ध में झूठ बोलता है वे उसके वैरी हो जाते हैं। अतः उनसे भी अनेक आपत्तियाँ आती हैं। मरकर अशुभ गति में जाता है और निंदनीय भी होता है। अतः असत्य बोलने से विरक्त होना कल्याणकारी है। परधन के ग्रहण करने में आसक्त चित्तवाला चोर सर्वजनों के द्वारा तिरस्कृत होता है, निरंतर भयभीत रहता है। इस लोक में अभिघात (मारपीट), वधबंधन, हाथ-पैर, कान-नाक, ओष्ठ आदि का छेदन-भेदन और सर्वस्व हरण आदि दण्ड भोगता है (प्राप्त करता है) और मरकर परलोक में अशुभ गति में जाता है। अतः चोरी से विरक्त होना ही श्रेयस्कर है तथा अब्रह्मचारी

(कुशील सेवी) मानव मदोन्मद हाथी के समान हथनी से ठगा हुआ हथनी के वशीभूत हुआ हाथी—मारन—ताडन—बंधन छेदन आदि अनेक दुःखों को भोगता है। उसी प्रकार परस्त्री के वश हुआ मानव वध—बन्धनादि को भोगता है। मोहाभिभूत होने के कारण कार्य (करने योग्य) अकार्य (नहीं करने योग्य) के विचार से शून्य होकर किसी शुभ कर्म का आचरण नहीं करना है। परस्त्री का आलिंगन तथा उसके संग (संग) में रति करने वाले मानव का सर्वलोक वैरी हो जाता है। परस्त्रीगामी इस लोक में छेदन, वध—बन्धन, क्लेश, सर्वस्व हरणादि के दुःखों को प्राप्त होते हैं, तथा मरकर परलोक में अशुभगति में जाते हैं और यहां निंदनीय होते हैं। अतः अब्रह्य से विरक्त होना ही श्रेष्ठ श्रेयस्कर है, आत्महित कारक है तथा परिग्रहवान्, पुरुष मांसखण्ड को ग्रहण किये हुए पक्षी की तरह अन्य पक्षियों के द्वारा झपटा जाता है। चोर आदि के द्वारा अभिभवनीय (तिरस्कृत) होता है। उस परिग्रह के अर्जन, रक्षण और विनाशकृत अनेक दुःखों को प्राप्त होता है। जैसे—ईधन से अग्नि तृप्त नहीं होती उसी प्रकार परिग्रह से तृप्ति

नहीं होती। लोभ कषाय से अभिभूत होने से कार्य अकार्य से अनभिज्ञ हो जाता है। परिग्रहवान् मानव मरकर परलोक में नरक, तिर्यचादि अशुभगति में जाता है। “यह लोभी है, कंजूस है” इत्यादि रूप से निंदनीय होता है। अतः परिग्रह का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। ये हिंसादि पाप अपाय और अवद्य के कारण हैं ऐसी निरन्तर भावना भानी चाहिए।

दुःखमेव वा।

One must also meditate, that the five faults, injury etc. are pain personified, as they themselves are the veritable womb of pain.

अथवा हिंसादिक दुःख ही है ऐसी भावना करनी चाहिये।

दुःख के कारण से हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्याचर्य एवं परिग्रह दुःख स्वरूप हैं। क्योंकि हिंसादिक पाप से इहलोक में शारीरिक, मानसिक, आर्थिक, सामाजिक आदि दुःख मिलते हैं और परलोक में भी नरक—तिर्यच आदि दुर्गति में जीव को अनेक कष्ट प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि हिंसादिक पाप असाता वेदनीय कर्म के आश्रव के कारण हैं इसलिये दुःख के

कारक या दुःख के कारण जो हिंसादिक हैं उनमें दुःख उपचार है।

जिस समय जीव हिंसादिक पाप करता है उस समय में उसका भाव दूषित होने के कारण जो कर्मास्रव होता है वह कर्मास्रव पाप प्रकृति रूप में परिणमन कर लेता है। यह पाप ही उस पापी को अनेक प्रकार का दुःख देता है। पाप प्रवृत्ति के समय जो दूषित भाव होते हैं उससे मानसिक तनाव, मानसिक उद्वेग, चिन्ता, भय आदि उत्पन्न होते हैं जिसके कारण उसे तत्काल भी मानसिक कष्ट एवं यातनाएं मिलती हैं जिससे विभिन्न मानसिक रोग के साथ-साथ शारीरिक रोग होता है। जैसे : ब्लडप्रेशर बढ़ना, सिरदर्द, कैंसर, टी.बी., हृदय गति रुकना (हार्टफेल) उन्माद, पागलपन आदि रोग होते हैं। इतना ही नहीं इस लोक में ही अपमान, प्रताड़ना, जेल जाना, सामाजिक प्रतिष्ठा का हास, अविश्वास, शत्रुता, कलह यहाँ तक कि प्राण दण्डादि कष्ट मिलते हैं। जो हिंसा करता है उसके फलस्वरूप इस जन्म में उसकी हिंसा हो सकती है पर जन्म में अकाल मरण रोग

आदि यातनाएं सहन करनी पड़ती है।

झूठ बोलने से दूसरों का विश्वास झूठ बोलने वाले पर से उठ जाता है। जिह्वा छेद आदि दण्ड मिलता है। केवल एक बाद झूठ बोलने पर राजा वसु का स्फटिकमय सिंहासन फट गया। वह नीचे गिरा तथा पृथ्वी भी फट गई और वह पृथ्वी में समावेश होकर नरक में गया। मिथ्या बोलने वाला परभव में गूंगा (मूक) होता है, मुंह में घाव होता है और मुंह में से बदबू आती है।

चोरी करने वाला इस जन्म में अनेक शारीरिक दण्ड को पाता है। उस पर कोई विश्वास नहीं करता है। राजा सरकारादि उसके धन अपहरण करके जेल में दण्ड देते हैं, यहाँ तक कि कभी-कभी प्राणदण्ड मिलता है। परभव में भिखारी बनता है एवं उसका भी धन अपहरण अन्य के द्वारा किया जाता है।

मैथुन सेवन से शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक कष्ट होता है क्योंकि आयुर्वेद के अनुसार एक संभोग से जो वीर्य क्षय होता है उतना वीर्य कुछ दिन के भोजन से तैयार होता है। इससे सुजाक, मस्तिष्क दुर्बलता, शारीरिक

शक्ति का हास, स्मरण शक्ति हास, रोग प्रतिरोधक शक्ति की कमी आदि अनेक विपक्षियाँ आ घेरती हैं। वर्तमान में जो एड्स रोग ने विश्व में आतंक फैलाया है उस महारोग की उत्पत्ति एवं वृद्धि अब्रह्मचर्य से ही हुई है। अब्रह्मचर्य से ही जनसंख्या की वृद्धि होती है और इसकी वृद्धि से खाद्याभाव, आवास का अभाव, प्रदूषण में वृद्धि, भुखमरी, समुचित शिक्षा-दीक्षा का अभाव आदि अनेक समस्यायें उत्पन्न होती हैं। अब्रह्मचारी अतिकामुक व्यक्ति हिताहित विवेक से रहित होकर परस्त्रीगमन, वेश्यागमन आदि कार्य भी करता है। जिससे उसे दण्ड, अपमान, सामाजिक अप्रतिष्ठा आदि अनेक समस्यायें आ घेरती हैं। कभी — कभी कुशील सेवन से प्राणदण्ड तक मिलता है। इष्टोपदेश में पूज्यपाद स्वामी ने काम-भोग से उत्पन्न दुःख का वर्णन निम्न प्रकार किया है।

आरम्भे तापकान्नांप्तावड तृप्तिप्रतिपादकान्।

अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् काम कः सेवते सुधीः॥ (7)

आरम्भ में सन्ताप के कारण और प्राप्त होने पर अतृप्ति के करने वाले तथा अन्त में जो बड़ी मुश्किल से

भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोग को कौन विद्वान्—समझदार, ज्यादती व आसक्ति के साथ सेवन करेगा?

किमपीदं विषयमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन।

प्रसभमनुभूयं मनोभवे — भवे नैव — चेतयते ॥

अहो ! यह विषयमयी विष कैसा गजब का विष है कि जिसे जबर्दस्ती खाकर यह मनुष्य, भव — भव में नहीं पेत पाता है।

“जैन धर्म में हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील को जैसे पाप माना है वैसे ही परिग्रह को भी पाप माना है।” पाप का अर्थ है — पतन। जिसके कारण जीव पतित होता है उसे पाप कहते हैं। सचित एवं अचित परिग्रह के कारण जीव अनेक कष्टों को उठाता है तथा अनेक पापों को करता है। परिग्रह संचय के कारण ही समाज में धनी—गरीब, शोषक—शोषित, मालिक—मजदूर, आदि विपरीत विषम परिस्थिति से युक्त व्यक्ति का निर्माण होता है। जिसके पास परिग्रह रहता है वह अधिक लोभी, अधिक शोषक, गर्वी बन जाता है क्योंकि परिग्रह के कारण उसे धनमद

हो जाता है। इसे ही कबीरदासजी ने कहा है -
कनक-कनक ते सौ गुनी मादकता अधिकाय।
वो खाये बौराय नर वो पाये बौराय ॥

कनक (धन-सम्पत्ति) कनक (धतुरा विषाक्त फल) से भी सौ गुनी मादक गुणयुक्त है। क्योंकि कनक (धतुरा) को खाने पर जीव नशायुक्त (पगले) हो जाते हैं, कनक (धन) को प्राप्त करते ही जीव मदयुक्त हो जाता है। धन (सम्पत्ति) (परिग्रह) सर्वथा, सर्वदा दुःखदायी है। पूज्यपाद स्वामी ने इष्टोपदेश में कहा भी है -

दुरज्येनासुररक्ष्येण, नश्वरेण धनादिना ।
स्वस्थं मन्यो जनः कोऽपि ज्वरानिव सर्पिषा ॥ (13)

जैसे कोई ज्वर वाला प्राणी धी को खाकर या चुपड़कर अपने को स्वस्थ मानने लग जाय, उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किल से पैदा किये गये तथा जिनकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जाने वाले हैं, ऐसे धनादिकों से अपने को सुखी मानने लग जाता है।

अर्थस्योपार्जने दुःखमपर्जितस्य च रक्षणे ।
आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्थ दुःख भाजनम् ॥

धन अर्जित करने में दुःख, उसकी रक्षा करने में दुःख, उसके जाने में दुःख, इस तरह हर हालत में दुःख के कारण रूप धन को धिक्कार हो।

दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि तृप्येदुदधिर्नदीशनैः ।

न तु कामसुखैः पुमानहो, बलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥

यद्यपि अग्नि, धास, लकड़ी आदि के ढेर से तृप्त हो जाये, समुद्र, सैकड़ों नदियों से तृप्त हो जाये, परन्तु वह पुरुष इच्छित सुखों से कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो ! कर्मों की कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबरदस्ती है।

“हिंसानृतस्तेयब्रह्मपरिग्रहेभ्योविरतिर्वतम् ।”

व्रत Vow is to be free from - हिंसा injury, अनृत Falsehood, स्तेय Thift, अब्रह्म Unchastity और परिग्रह Worldly attachment (of worldly objects) से निवृत होना व्रत है।

आस्रव पदार्थ के व्याख्यान की प्रतिज्ञा कर के आस्रव के एक सौ आठ भेदों की संख्या का अनेक रीतियों से

विचार किया है अर्थात् आस्रव के भेद कहे हैं। पुण्यरूप और पापरूप कषायों का निमित्त होने से वह आस्रव दो प्रकार का है। एक पुण्याश्रव दूसरा पापाश्रव। उन पुण्य एवं पाप आस्रवों में से अब पुण्यास्रवों का वर्णन करते हैं पुण्याश्रव प्रधान है क्योंकि मोक्ष पुण्याश्रव पूर्वक ही होता है अर्थात् पुण्यास्रव के विचार में कहा गया पुण्यास्रव मोक्ष में परम्परा से कारण होने से इस समय व्याख्येय है।

विरमण का नाम विरति है। चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम, क्षय और क्षयोपशम के निमित्त से औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक चारित्र की प्रकटता होने से जो पापों की विरक्ति होती है, उसे विरति कहते हैं।

अभिसंधिकृत नियम व्रत कहलाता है। बुद्धिपूर्वक परिणाम वा बुद्धिपूर्वक पापों का त्याग अभिसंधि है। 'यह ऐसा ही करना है, अन्य प्रकार से निवृत्ति है;' ऐसे नियमों को अभिसंधि कहते हैं। अभिसंधिकृत (बुद्धिपूर्वक किया हुआ) नियम सर्वत्र व्रत कहलाता है। अर्थात् शुभ कार्यों में प्रवृत्ति और अशुभ से निवृत्ति ही व्रत है। व्रत में किसी अन्य कार्य से निवृत्ति ही मुख्य होती है।

हिंसादि पाँच पापों के त्याग से केवल शुभास्रव नहीं होता है; परन्तु अशुभ आस्रव का निरोध (संवर) भी होता है। पांचों पापों के त्याग से केवल परलोक ही नहीं सुधरता है; परन्तु इहलोक अर्थात् वर्तमान जीवन भी आदर्श एवं सुखमय बनता है।

1. सापेक्ष विचार, अनेकान्त सिद्धान्त, सहिष्णुता (उदारता) :-

विश्व के प्रत्येक द्रव्य/घटक/घटनाओं के अनेक गुणधर्म/पक्ष/कारक होने के कारण उन्हें उन—उन दृष्टियों से देखना चाहिये, समझना चाहिये, कथन करना चाहिये। इसे ही अनेकान्त सिद्धान्त, स्याद्वाद आदि कहते हैं। इसके कारण बौद्धिक विकास, भावात्मक विशालता, आत्मा की पवित्रता, कथन में लचीलापन/मृदुता आती है, जिससे सत्यग्राहिता, नम्रता, सहिष्णुता आती है तथा संकीर्णता, कटुता, झगड़ा, कलह, द्वेष, कूट, युद्ध, विग्रह, हिंसा, मानसिक रोग आदि घटते हैं। यह गुण उस व्यक्ति में प्रगट होता है जो अंधविश्वास, संकीर्णता, घमण्ड, पूर्वाग्रह, हठग्राही, मायाचारी आदि दुर्गुणों से रहित होता है।

2. अहिंसा :- पवित्र भाव होना अहिंसा है, और भाव अहिंसा सहित स्व-पर का मन-वचन-काय, कृत-कारित-अनुमोदना से क्षति नहीं पहुंचाना द्रव्य अहिंसा है। इससे स्व-पर की समग्रता से सुरक्षा, समृद्धि होती है। स्व तथा भाव अहिंसा होने पर ही, स्व-पर तथा द्रव्य अहिंसा का पालन हो सकता है। अहिंसा के कारण राग-द्वेष, अपना-पराया, भेद-भाव, ऊँच-नीच, ईर्ष्या-कलह, युद्ध, आतंकवाद, हत्या, आक्रमण आदि का अभाव हो जाता है। जिसके कारण विश्व में सुख-शांति-समृद्धि होती है। इसीलिये “अहिंसा परमो धर्मः”, “अहिंसामृतम्” है। इससे ‘सहअस्तित्व’ ‘सहयोग’ ‘आत्मवत् सर्व भूतेषु’, ‘जीओ और जीने दो’, ‘पर्यावरण सुरक्षा’ ‘पारिस्थितिकी सिद्धान्त’ को बल मिलेगा, जिससे विश्व की समस्या स्वरूप बिखराव, भेदभाव, संकीर्ण-कट्टर राष्ट्रवाद, धर्मोन्माद के कारण जायमान हिंसा, आतंकवाद, राष्ट्रीय गृह कलह से लेकर विश्वयुद्ध, पर्यावरण असन्तुलन से जायमान अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प, बवन्डर, चक्रवात, अकाल, बाढ़, मृदा-जल-वायु-धनि-भाव प्रदूषण तथा विभिन्न रोग दूर होंगे।

60

3. सत्य :- सत्य ही सार्वभौम, सार्वकालिक, त्रैकालिक अबाधित होने के कारण, समस्त विश्व से लेकर राष्ट्रीय, पारिवारिक एवं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, स्थिति, समृद्धि, शांति भी सत्य में निहित है। वस्तु स्वरूप, स्वशुद्ध आत्मस्वरूप सत्य होने के कारण सत्य में किसी भी प्रकार की विकृति, समस्या संभव नहीं है। निश्चयतः स्व-आत्मस्वरूप में स्थित होना परम सत्य है जिसे मोक्ष, निर्वाण, ईश्वरत्व कहते हैं। व्यवहारतः दूसरों की सत्ता, सम्पत्ति, विभूति, प्रसिद्धि, बुद्धि, कृति, जमीन आदि का अनैतिकतापूर्वक अपना नहीं मानना एवं न ही अपना बनाना, मान्यता देना भी सत्य है। दूसरों की सत्ता, सम्पत्ति आदि को स्वीकार करना एवं मान्यता देना भी सत्य है। पूर्वक्त दोषों से रहित होकर यर्थार्थ स्वरूप को स्वीकार करना सत्य है। इससे व्यक्तिगत कलह, तनाव से लेकर राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय कलह, तनाव, कानून लडाई, वैमनस्य, पक्षपात आदि समस्याएं समाप्त हो जाती हैं।

4. अचौर्य :- दूसरों की सत्ता, सम्पत्ति का अनैतिक रूप से बलात् या धोखाधड़ी से स्व-अधिकार में नहीं करना अचौर्य है। इससे चोरी, डकैती, भ्रष्टाचारी, मिलावट,

61

घोटाला, घुसपैठ, घूसखोरी, अपहरण, दूसरे देश पर आक्रमण, सैल्सटैक्स-इन्कमटैक्स चोरी, कर्तव्य चोरी आदि समस्यायें दूर हो जाती हैं।

5. अपरिग्रह :- आध्यात्मिक दृष्टि से स्व-आत्म द्रव्य को छोड़कर अन्य किसी चेतन-अचेतन द्रव्य को ग्रहण करना परिग्रह है। व्यवहार से अनैतिक चेतन-अचेतन द्रव्यों को ग्रहण करना, अति संग्रह करना, अति लालसा या गृद्धता रखना परिग्रह है। उपरोक्त परिग्रह से विपरीत अपरिग्रह है अर्थात् निश्चय से स्व-शुद्ध आत्मा ही अपरिग्रह है और व्यवहारतः आवश्यक वस्तु को छोड़कर अन्य वस्तुओं को ग्रहण नहीं करना अपरिग्रह है। इससे गरीब-अमीर, शोषक-शोषित, मजदूर-पूंजीपति, नौकर - मालिक, शोषण - मिलावट, चोरी, डकैती, बेईमानी, रिश्वतखोरी, कालाबाजारी, मंहगाई, अभाव, भूखमरी आदि समस्यायें संभव ही नहीं होती हैं।

महावीर भगवान् का अपरिग्रहवाद पूर्ण आध्यात्मिक, नैतिक, साम्यवाद, समाजवाद है। इसके लिये किसी प्रकार बल-प्रयोग, हिंसात्मक कार्यवाही की आवश्यकता

ही नहीं होती क्योंकि यह सब स्वेच्छा से, आत्म प्रेरणा से होता है। परिग्रह के कारण जायमान बड़े-बड़े उद्योग, फेकट्री, यान-वाहन से उपजी धनि-वायु-जल-मृदा प्रदूषण, ग्रीनहाउस प्रभाव ओजन परत में छेद, कृत्रिम तापमान की वृद्धि आदि समस्याएं नहीं होती हैं, जिससे अनेक शारीरिक - मानसिक रोग नहीं होते हैं।

6. ब्रह्मचर्य :- ब्रह्म यानि आत्मा में रमण करना ब्रह्मचर्य है। व्यवहारतः समस्त स्त्री - पुरुष जनित भोग का त्याग करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्याणुव्रत में स्व-स्त्री या स्व पुरुष से मर्यादित, नैतिक संभोग करना ब्रह्मचर्याणुव्रत है। इससे अब्रह्मचर्य से जायमान जनसंख्या वृद्धि, ऐसे रोग आदि बीमारियाँ दूर होती हैं। जनसंख्या से उपजी अनेक समस्याएं यथा-निवास, यातायात, भोजन, पानी, शिक्षा, स्वास्थ्य, कुपोषण आदि का भी निराकरण होता है। इसीलिये भगवान् महावीर ने पंचशील को अभ्युदय एवं मोक्ष का कारण कहा तो पाँच पापों को “दुःखमेव वा” अर्थात् पाप दुःख का स्वरूप ही है। कहकर संक्षिप्ततः विश्व की सभी समस्याओं को गर्भित कर लिया तथा सम्पूर्ण निदान भी दे दिया।

उपर्युक्त दृष्टि से जैन सिद्धान्त विश्व के सर्वश्रेष्ठ, सामाजिक, राजनैतिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, स्वास्थ्यकर, महान क्रांतिकारी सर्वोदयी सिद्धान्त है, इन्हें किसी भी काल, राष्ट्र, जाति, पंथ, परम्पराओं की सीमाओं में आबद्ध नहीं किया जा सकता है। इसलिये ये सिद्धान्त पहले जैसे प्रासंगिक, आधुनिक, सम-सामयिक थे, उसी प्रकार अभी भी हैं और भी आगे रहेंगे, क्योंकि परम - सत्य सदा - सर्वदा अबाधित, अपरिवर्तनशील, नित्य - नूतन विर पुरातन होता है। इसीलिये हे विश्व मानवों ! यदि शांति एवं स्वास्थ्य चाहिये तो समस्त राजनैतिक, सामाजिक, जातिगत, क्षेत्रगत, राष्ट्रगत संकीर्णताओं को छोड़कर इन सिद्धान्तों को अपनाकर स्व-पर-विश्व को सुख - शांति एवं समृद्धिमय बनाओ।

विविध जीवों के प्रति जैन धर्म में वर्णित भावनाय

मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाधिकविलश्यमाना
विनेयेषु। (11) स्व. सूत्र पृ. 416

प्राणी मात्र में मैत्री, गुणाधिकों में प्रमोद, विलश्यमानों में करुणावृत्ति और अविनेयों में माध्यस्थ भावना करनी चाहिये।

1. मैत्री :— दूसरों के दुःख की अनुत्पत्ति की अभिलाषा मैत्री भाव है। स्वकीय काय, वचन, मन, कृत, कारित और अनुमोदना के द्वारा दूसरों को दुःख नहीं होने देना की अभिलाषा, मित्र का धर्म अथवा कर्तव्य मैत्री है।

2. प्रमोद :— मुख की प्रसन्नता आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अन्तर्भक्ति और राग प्रमोद है। मुख की प्रसन्नता, नयनों का आल्हाद, रोमाञ्च का उद्भव, स्तुति, निरन्तर सद्गुणकीर्तन आदि के द्वारा प्रकट होने वाली अंतरंग की भक्ति और राग तथा विशेष रीति से जो मोद (प्रसन्नता) होता है उसे प्रमोद कहते हैं।

3. कारुण्य :— दीनों के प्रति अनुग्रह भाव कारुण्य है। शारीरिक और मानसिक दुःख से दुःखी, दीन (अनाथ) प्राणियों के प्रति अनुग्रहात्मक परिणाम करुणा है और करुणा का भाव या कर्म कारुण्य कहलाता है।

4. माध्यस्थ :— रागद्वेष पूर्वक पक्षपात का अभाव माध्यस्थ है। राग और द्वेष से किसी के पक्ष में पड़ना पक्षपात है। उस राग - द्वेष के अभाव से मध्य में रहना माध्यस्थ है तथा मध्यस्थ का भाव या कर्म माध्यस्थ भाव है।

5. सत्त्व :— अनादि कर्म बन्धन के वश से जो दुःखी होते हैं, वे सत्त्व हैं। अनादिकालीन अष्टविधकर्मबन्ध सन्तान से तीव्र दुःख की कारणभूत चारों गतियों में जो दुःख उठाते हैं, से सत्त्व कहलाते हैं।

6. गुणाधिक :— सम्यग्ज्ञानादि गुणों से प्रकृष्ट को गुणाधिक कहते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र आदि गुण हैं, वे गुण जिसके अधिक हैं, वे गुणाधिक कहलाते हैं।

7. किलश्यमान :— असातावेदनीय कर्म के उदय से सन्तप्त किलश्यमान है। असातावेदनीय कर्म के उदय से जो शारीरिक और मानसिक दुःखों (आधि—व्याधि) से सन्तप्त हैं, वे वे किलश्यमान हैं।

8. अविनेय :— तत्त्वार्थोपदेश के श्रवण ग्रहण के द्वारा असम्पादित गुण वाला अविनेय है। न विनेय अविनेय है। अर्थात् विपरीत वृत्ति वाले अविनेय है।

9. विनेय :— तत्त्वार्थ का उपदेश श्रवण करने और उसे ग्रहण करने के जो पात्र होते हैं उन्हें विनेय कहते हैं।

इस सत्त्वादि में मैत्री आदि भावना यथाक्रम भानी

चाहिये। जैसे — मैं सब जीवों के प्रति क्षमा भाव रखता हूँ सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी जब जीवों प्रति प्रीति है, किसी के साथ वैर भाव नहीं है। इत्यादि प्रकार से जीवों के प्रति मैत्री भावना भानी चाहिये। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र आदि गुणाधिकों के प्रति वंदना, स्तुति, वैयावृत्तिकरणादि के द्वारा प्रमोद भावना भानी चाहिये। मोहाभिभूत, कुमति, कुश्रुत और विभंगावधिज्ञान से युक्त विषय तृष्णा रूपी अग्नि के द्वारा दहनमान मानस वाले, हिताहित से विपरीत प्रवृत्ति करने वाले, विविध दुःखों से पीड़ित दीन, अनाथ, कृपण, बालवृद्ध आदि किलश्यमान जीवों में करुणाभाव रूपी भावना भानी चाहिये। ग्रहण, धारण विज्ञान और ऊहापोह से रहित महामोहभिभूत, विपरीत दृष्टि और विरुद्ध वृत्ति प्राणियों में मध्यस्थ्य भावना रखनी चाहिये। ऐसा समझ लेना चाहिये कि ऐसे जीवों में वक्ता के हितोपदेश की सफलता नहीं हो सकती। इस प्रकार भावना भाने वालों के अहिंसा आदि व्रत परिपूर्ण होते हैं।

जैन धर्म का सार : विश्वशान्ति का आधार

जेण तच्च विबुज्जेज्ज जेण चित्तं णिरुज्जदि ।
जेण अत्ता विसुज्जेज्ज तं णाणं जिण सासणे ॥ (1)

जिससे तत्त्व का बोध होता है, जिससे मन का निरोध होता है, जिससे आत्मा शुद्ध होता है – जिनशासन में उसका नाम ज्ञान है।

जिसके द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप जाना जाता है, जिसके द्वारा मन का व्यापार रोका जाता है अर्थात् मन को अपने वश में किया जाता है और जिसके द्वारा आत्मा शुद्ध हो जाता है, जीव वीतरागी हो जाता है, वह ज्ञान जिनशासन में प्रमाण है, अर्थात् वह ज्ञान मोक्ष प्राप्त करने में कारणभूत है, उपायभूत है। वह ज्ञान संशय, विपर्यय अनध्यवसाय और अकिञ्चितकर से रहित है।

जेण रागा विरज्जेज्ज जेण सेएसु रज्जदि ।
जेण मेर्ती पश्विज्ज तं णाणं जिणसासाणे ॥ (2)

जिसके द्वारा जीव राग से विरक्त हो जाता है, जिसके द्वारा मोक्ष में राग करता है, जिसके द्वारा मैत्री को भावित करता है, जिनशासन में वह ज्ञान कहा गया है। जिसके

द्वारा जीव राग – स्नेह से और काम क्रोध आदि से विरक्त होता है – परागंमुख होता है और मोक्ष में अनुरक्त होता है, जिसके द्वारा मैत्री भावना अर्थात् द्वेष का अभाव करता है, जिससे एकता होती है, जिनशासन में वही ज्ञान है। यह तात्पर्य है।

श्रीमत्परमगम्भीर स्याद्वादामोघ – लाङ्छनम् ।
जीयात त्रैलौक्यनाथस्य, शासनंजिनशासनम् ॥

जो अनेक प्रकार की अन्तरंग लक्ष्मी से भरपूर हैं, अत्यन्त गम्भीर 'स्याद्वाद' जिसका सफल निर्विवाद चिन्ह है तथा तीन लोकों के अधिपति अधोलोक के स्वामी शरणेन्द्र, मध्यलोक के स्वामी चक्रवर्ती व उर्ध्वलोक के स्वामी इन्द्र आदि पर जो शासन करने वाले हैं, ऐसे वीतरागी अर्हन्तदेव का 'जिनशासन' सदा जयवन्त रहे।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षायें :— जिससे जीव को सत्य तथ्य का प्रबोध होता है, मन की चञ्चलता दूर होकर मन में शान्ति होती है, आत्मा की मलिनता दूर होकर आत्मा विशुद्ध होता है, राग/आसक्ति/मोह/तृष्णा/लोभ दूर होता है, श्रेय/मोक्ष में संलग्न होता है, मैत्री / प्रेम / एकता / संगठन / भातृत्व की भावना / प्रभावना होती

है, अन्तरंग वैभव सम्पत्र, गम्भीर, गहन, उदार, व्यापक अनेकान्त – स्थाद्वाद आदि जैन शासन/जैन धर्म/जैन रहस्य से प्राप्त शिक्षायें हैं।

2. जैनधर्म का स्वरूप :-

धर्मो मंगल मुक्तिकट्टुं अहिंसा संयमो तवो ।
देवा वि तं णमस्संति जस्स धर्मो सयामणो ।

अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म मंगल कहा गया है। जिसका मन सदा धर्म में लगा रहता है उसको देव भी नमस्कार करते हैं।

वत्थु सहावो धर्मो खमादि भावो य दस विहो धर्मो।
रयणतयं य धर्मो जीवाणं रक्खणं धर्मो ॥

वस्तु के स्वाभाव को धर्म कहते हैं। दस प्रकार के क्षमा आदि भावों को धर्म कहते हैं। रत्नत्रय को धर्म कहते हैं और जीवों की रक्षा करने को धर्म कहते हैं। रहस्य एवं प्राप्त शिक्षाएँ :- जैनधर्म उत्कृष्ट मंगल/पवित्र स्वरूप है जो कि अहिंसा, संयम, तप, वस्तुस्वरूप, उत्तमक्षमा, मृदुता (नग्रता), सहज-सरलता, सत्य, पवित्रता, त्याग, आकिञ्चन्य, ब्रह्मचर्य, सम्यग्विश्वास, सच्चा विज्ञान, सदाचरण, जीवों की रक्षा स्वरूप है।

उपर्युक्त गुण-धर्म को प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी मानते हैं, अतः इस दृष्टि से वे सब समधर्मावलम्बी/एक/समान हैं। इतना ही नहीं, यह प्राकृतिक, वैशिवकधर्म है।

3. सर्वजीवों के प्रति क्षमा एवं मित्रता :-

खम्मामि सब जीवाणं सब्जेजीवा खमंतु में।
मिती में सब भूदेसु वैरं मज्जं ण केण वि ॥

मैं संसार के समस्त प्राणियों के प्रति क्षमा भाव धारण करता हूँ। समस्त प्राणी भी मुझ पर क्षमा भाव धारण करें। संसार के सभी जीवों में मेरा मैत्रीभाव है तथा किसी भी जीव के साथ मेरा वैर विरोध नहीं है।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षाएँ :- प्रथमतः स्वयं विश्व के प्रत्येक जीवों को मन – वचन – काय – कृत – कारित – अनुमोदना से क्षमा प्रदान करके पुनः/द्वितीयतः विश्व के प्रत्येक जीवों से क्षमा याचना पूर्वक सबसे निर्वैरत्व रूपी पवित्र मित्रता रखना भी जैन धर्म है। तब तो मनुष्य और उनमें फिर प्रत्येक जैन धर्मावलम्बियों के प्रति यह उत्तम क्षमा सर्वोत्कृष्ट रूप से सदा – सर्वदा – सर्वथा – सर्वतो भाव से सहज है, प्राकृतिक है।

4. कषाय काय से मोक्ष, न कि पत्न्य की कषाय से:-

नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे, न तत्त्ववादे न च तर्कवादे ।
न पक्षपात्ताश्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किलमुक्तिरेव ॥

न केवल दिग्म्बरत्व स्वीकार करने से मुक्ति मिलती है, न श्वेताम्बरत्व स्वीकार करने से और न तत्त्वों के विषय में वाद-विवाद कर लेने से, न कोई तर्क-वितर्क कर लेने से ही मुक्ति प्राप्त होती है। किसी एक पक्ष का आश्रय लेने से भी मुक्ति नहीं होती। कषायों से मुक्ति ही वास्तव में मुक्ति है।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षाएँ :— समस्त राग-द्वेष तथा द्रव्यकर्म — भावकर्म — नोकर्म के सम्पूर्ण क्षय से मोक्ष होता है जो कि आत्मा का शुद्ध स्वरूपभूत है। अतः उस सम्पूर्ण शुद्धता की प्राप्ति के उपाय, नियम, पथ, मार्ग ही व्यवहार धर्म है। किन्तु यदि किसी भी धार्मिक नियमादि के कारण या उसके निमित्त से राग-द्वेषादि उत्पन्न होते हैं, बढ़ते हैं, दृढ़ होते हैं तो वह नियमादि धर्म के कारण न होकर, अधर्म के कारण बन जाते हैं। जैसा कि सही प्रयोग से जल जीवन के लिए कारण है तो उसमें ढूबने से मृत्यु के लिए कारण भी बन जाता है। उसी प्रकार बाह्य धार्मिक क्रिया—काण्ड, पंथ—मत के लिए भी जान लेना चाहिए।

72

5. सर्वजीवों के प्रति समता -

समता सर्व भूतेषु संयमः शुभं भावना ।
आर्तं रौद्रं परित्यागस्तद्वि सामायियं मतं ॥

सब जीवों में समता भाव धारण करना, संयम में शुभ भावना होना, आर्तध्यान, रौद्रध्यान का पूर्ण त्याग करना, वह निश्चय से सामायिक माना गया है।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षाएँ :— विश्व के प्रत्येक जीव के समता, मन — वचन — काय — इन्द्रिय — साधना — समय का संयम / समुचित सदुपयोग या इसके प्रति शुभ भावना, आर्त—रौद्ररूपी संकलेश / कुर्ध्यान / कुविचारों का त्याग सामायिक / समता है। इस परिस्थिति में मनुष्य तथा उनमें फिर प्रत्येक जैन धर्मावलम्बियों के प्रति तो समता / शुभभाव सहज—सुलभ—विधेय है।

6. विश्वशानि की भावना

सम्पूजकानां प्रतिपालकानां, यतीन्द्रं सामान्यं तपोधनानां ।
देशस्य राष्ट्रस्य पुरस्य राज्ञः, करोतु शांतिं भगवान् जिनेन्द्रः ॥

हे जिनेन्द्र दव ! श्रद्धा से आपकी आराधना करने वाले आराधकों को धर्म के आयतन—देव, शास्त्र, गुरु और तीर्थों की रक्षा करने वालों को, आचार्यों, सामान्य तपस्वियों,

मुनियों आदि सर्व संयमियों को, देश, राष्ट्र, नगर, प्रजा सभी को शान्ति प्रदान कीजिये ।

क्षेमं सर्वप्रजानां प्रभवतु बलवान् धार्मिको भूमिपालः ।
काले काले च सम्यग्वितरतु मधवा व्याघयो यान्तु नाशम् ॥

दुर्भिक्षं चौर मारिः क्षणमपि जगतां मास्मृजीवा लोके ।
जैनेन्द्रं धर्मचक्रं प्रभवतु सततं सर्वं सौख्यं प्रदायि ॥

हे प्रभो ! लोक में समस्त प्रजा का कल्याण हो, प्रजा बलवान् और धार्मिक हो, सर्वदिग्दिगन्त में समय—समय पर मेघ यथा योग्य जलवृष्टि करते रहें, कहीं भी, कभी भी अतिवृष्टि रूप प्रकोप न हो, मानसिक — शारीरिक बीमारियों का नाश हो तथा लोक में जीवों को कभी भी क्षण मात्र के लिए भी दुष्काल, चोरी, मारी रोग, हैजा, मिरगी आदि न हो । वीतराग जिनेन्द्र देव का धर्मचक्र जो प्राणी मात्र के लिए सुखदायक है, सदा प्रभावशाली बना रहे । हे विभो ! आपका जिनशासन सर्वलोक में विस्तृत हो, लोकव्यापी जिनधर्म कल्याणकारी हो ।

प्रधस्त धाति कर्मणः केवलज्ञान भास्कराः ।
कुर्वन्तु जगतां शान्तिं, वृषभाद्या जिनेश्वराः ॥

ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार धातिया कर्मों का जिन्होंने समूल क्षय कर दिया है तथा जो केवलज्ञान रूपी सूर्य से जगत् को प्रकाशित करते हुए शोभा को प्राप्त हैं ऐसे वृषभनाथ को आदि लेकर महावीर पर्यन्त चतुर्विंशति तीर्थकर जगत् के समस्त प्राणियों को शान्ति, सुख, क्षेम, कुशल प्रदान करे ।

शान्तिः शंतनुतां समस्तं जगतः, संगच्छतां धार्मिकैः ।
श्रेयः श्री परिवर्धतां नयधरा, धुर्यो धरित्री पतिः ॥
सद्विद्यारसमुद्गिरन्तु कवयो, नामाप्य धस्यास्तु मां ।
प्रार्थ्य वा कियदेकं एव शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हताम् ॥

हे शान्तिनाथ प्रभो ! तीन लोक के समस्त प्राणी सुखी हों, धर्मात्मा जीवों को कल्याणकारी स्वर्ग—मुक्ति लक्ष्मी प्राप्त हो, नीति — न्याय का घर—घर में प्रचार हो, पृथ्वी का राजा शूरवीर हो । विद्वान् लोग उत्तम शिक्षा का प्रसार करें जिससे लोक में पाप का नाम भी न रहे । पृथ्वी पर पाप का नाम भी न रहे और अन्त में क्या मांगू बस एक ही मांगता हूँ वह यह कि “वीतराग देव / अहन्त भगवन्त का मोक्षदायक ‘जिनधर्म’ सदा पृथ्वी मण्डल पर जयवन्त रहे ।

रहस्य एवं प्राप्त शिक्षाएः :- वस्तुतः जैन धर्म स्व-पर - विश्वकल्याण की भावनाएँ, योजनाएँ तथा उपाय स्वरूप है। सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों से लेकर पशु-पक्षी, प्रकृति, देव - नारकी तथा मनुष्य तक की सुरक्षा, समृद्धि, उन्नति के विचार, उपाय, नियम, सूत्र आदि जैन धर्म में यत्र-तत्र-सर्वत्र व्याप्त है। अनेकान्त, सत्य के अनन्त गुणधर्म के साथ-साथ आंशिक सत्य को आंशिक सत्य रूप में स्वीकार करने के लिए पाठ पढ़ाता है तो स्याद्वाद तदनुकूल कथन/लेखन के लिए कहता है तथा अहिंसा स्व-पर की रक्षा, समता-साम्यावस्था की सुरक्षा, अपरिग्रह शोषण/संग्रह मुक्तता आदि की शिक्षा देकर सहअस्तित्व, सहयोग, सहजी विता के माध्यम से स्व-पर विश्वकल्याण विश्वशान्ति के सार्वभौम, शाश्वतिक, श्रेष्ठतम् मार्ग प्रशस्त करते हैं। केवल आवश्यकता है उस मार्ग पर चलकर उसे प्राप्त करना।

सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं, विलष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वम्।
माध्यस्थमावं विपरीत वृत्तौ, सदाममात्मा विदधातु देवः ॥

हे भगवान् ! मेरा प्रत्येक जीव के प्रति मैत्री भाव रहे, गुणीजनों में प्रमोदभाव रहे, दुःखीजनों के लिए करुणाभाव

रहे, दुर्जनों के प्रति मेरा सदा माध्यस्थ्य भाव (साम्यभाव) रहे।

राजनीति की अमूल्य कृति - नीति वाक्यामृत में सोमदेव सूरी ने कहा है- “आत्मवत् परत्र कुशल वृत्ति चिन्तनंशक्तिस्त्याग तपसीच धर्माधिगमोपायाः ।” अपने ही समान दूसरे प्राणियों का हित (कल्याण) चिन्तन करना, शक्ति के अनुसार पात्रों को दान देना और तपश्चरण करना, ये धर्म प्राप्ति के उपाय हैं।

सर्व सत्वेषु हि समता सर्वाचरणानां परमं चरणम् ॥

समस्त प्राणियों में समता भाव रखना अर्थात् उनकी रक्षा करना सभी सत्कर्त्तव्यों में सर्वोत्तम कर्तव्य है।

सर्वेऽपि भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः ।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखमाप्नुयात् ॥

सम्पूर्ण जीव जगत् सुखी-निरोगी, भद्र, विनयी, सदाचारी रहें। कोई भी कभी भी किञ्चित् (थोड़े) दुःख को भी प्राप्त न करे।

शिवमस्तु सर्वजगतः परहित निरता भवन्तु भूतगणाः ।
दोषा प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

सम्पूर्ण विश्व मंगलमय हो, जीव समूह परहित में
निरत रहे, सम्पूर्ण दोष विनाश को प्राप्त हो जावे, लोक
में सदा—सर्वदा जीव सम्पूर्ण प्रकार से सुखी रहें।

मा कार्षीत् कोपि पापानि, मा च भूतः कोपि दुःखितः।
मुच्यतां जगदप्येषां, मतिर्मैत्री निगद्यते ॥

कोई भी पाप कार्य न करें, कोई भी दुःखी न रहे,
सम्पूर्ण जगत दुःख, कष्ट, वैरत्व से रहित हो जावे, इस
प्रकार की भावना को मैत्री भावना कहते हैं।

कायेन, मनसा वाचा सर्वेष्वपि च देहिषु।

अदुःख जननी वृति मैत्री, मैत्री विदां मता ॥।

काय, मन, वचन से सम्पूर्ण जीवों के प्रति ऐसा व्यवहार
करना जिससे दूसरों को कष्ट न पहुँचे, इस प्रकार के
व्यवहार को मैत्री भावना कहते हैं।

7. द्वेष से विनाश :-

जब दो व्यक्तियों में द्वेष उत्पन्न हो जाता है तब
परस्पर में कष्ट देने को तुल जाते हैं, भले दूसरों को
कष्ट पहुँचाते समय स्वयं को भी कष्ट क्यों न पहुँचे।
भारुण्ड पक्षी एक उदर एवं दो मुख वाला पक्षी था। एक

मुख के विरोध से दूसरे मुख ने विषफल खा लिया, तब
भारुण्ड पक्षी ही मरण को प्राप्त हो गया तब दोनों मुखों
का भी प्राणान्त हो गया। इसी प्रकार समाज, धर्म, राष्ट्र
का शरीर एक है परन्तु व्यक्ति रूप मुख अनेक है। जब
समाज आदि के अभिन्न रूप एक व्यक्ति दूसरों को कष्ट
देने के लिए कुछ कार्य करता है, तब वह दूसरों के साथ
स्वयं को भी कष्ट पहुँचाता है। इसीलिए दूसरों को कष्ट
देना मानो स्वयं को कष्ट देना है। इसीलिए पूर्वाचार्यों ने
कहा है — “जीववध आत्म वध भवति” दूसरे जीवों का
वध आत्मवध है। इसीलिए नीतिकारों ने कहा है —
“आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्” Do not practice to others what is not agreeable to you. जो व्यवहार
स्वयं के लिए प्रतिकूल है, वह दूसरों के लिए भी प्रतिकूल
होने के कारण वह व्यवहार दूसरों के साथ न करें।

दुश्मन का नाश दुश्मन को कष्ट देकर या मारकर
नहीं किया जा सकता, परन्तु प्रेम एवं मैत्री से, हृदय
परिवर्तन से दुश्मनी का समूल विनाश किया जा सकता
है। शत्रु का किस प्रकार समूल रूप से विनाश किया जा
सकता है उसका एक रोचक प्रसंग दे रहे हैं —

अमेरिका के राष्ट्रपति लिंकन एक महान् उदार

राजनीतिज्ञ थे। वे मित्र के साथ सद्व्यवहार करते थे वैसा शत्रु के साथ भी व्यवहार करते थे। उनके कुछ शत्रु उनके पीछे उनकी कटु आलोचना करते थे, तो भी लिंकन एक सर्वोच्च सत्ताधारी होते हुए भी उनका बदला दंडादि से नहीं लेते थे। एक दिन उनका एक घनिष्ठ मित्र लिंकन से बोला — आपके अनेक शत्रु हैं जो आपकी कटु आलोचना करते हैं। उनका आप क्यों प्रतिकार नहीं करते हो? उनको दण्ड देकर या मृत्यु दण्ड देकर उनका नाश करना चाहिए। लिंकन बोले उनका समूल नाश करने की मैं कोशिश कर रहा हूँ। लिंकन का प्रत्युत्तर सुनकर मित्र आश्चर्य पूर्वक बोला — आप तो शत्रु को एक शब्द तक भी नहीं कहते हैं तो उनका समूल विनाश कैसे कर रहे हो? लिंकनजी, उदार, गंभीर भाव से बोले—शत्रु को मित्र बनाकर समूल विनाश कर रहा हूँ। लिंकन का प्रत्युत्तर सुनकर उनका मित्र निरुत्तर हो गया।

भूदान यज्ञ के पुरस्कर्ता विनोबा भावे भी दूसरों को अपना बनाकर अथवा स्वयं दूसरों का बनकर, दूसरों को प्रभावित करके उनसे भूमि लेने में अत्यन्त दक्ष थे। अहिंसावादी होने के कारण दूसरों को कष्ट देकर या डर

दिखाकर भूमि नहीं लेते थे। जब वे जिस जर्मीदार के पास जाते थे और उन्हें ज्ञात होता था कि उनके पास अधिक जमीन है तब वे उस जर्मीदार से पूछते थे आप कितने भाई हैं? जब जर्मीदार कहता था कि हम चार भाई हैं तब विनोबा जी कहते थे कि मुझे अपना पाँचवा भाई समझकर अपने भाई को थोड़ी भूमि दे दो। इसी प्रकार अन्य किसी जमीदार के पास जाकर पूछते थे कि आपके कितने लड़के हैं? जर्मीदार उत्तर देता मेरे दो या तीन लड़के हैं, तब विनोबाजी कहते थे मुझे अपना तीसरा या चौथा लड़का मानकर थोड़ी सी भूमि दे दीजिये। इस तरह विनोबा भावे के प्रिय एवं अपनेपन के व्यवहार से अन्य लोग विशेष प्रभावित होते थे। वे अपने प्रिय भाई या बेटे को कभी भी निराश नहीं करते थे। उनको कुछ न कुछ प्रेम से भूमि दे देते थे। यह प्रेम और अपनेपन का महान् प्रभाव है।

सत्य है मूल संगठन का, विघटन का मूल है झूठ।
सत्य जहाँ है शिवसुन्दर, वहाँ है मिथ्या शब भंगुर॥

(आ.कनकनंदी)

जैन धर्मावलिम्बयों के 14 विशिष्ट गुण

न्यायोपात्तधनो यजन् गुणगुरुन् सदगीस्त्रिवर्गभजन्न,
न्यायोनुगुणं तदर्हगृहिणः स्थांनालयो ह्वीमयः।
युत्ताहारविहार आर्यसमितिः प्राज्ञः कृतज्ञो वशी,
श्रृण्वन् धर्मविधि दयालुरधर्मीः सागरधर्म चरेत् ॥

न्यायपूर्वक धन कमाने वाला गुणों, गुरुजनों और गुणों से महान् गुरुओं को पूजने वाला, आदर सत्कार करने वाला, परनिन्दा, कठोरता आदि से रहित प्रशस्त वाणी बोलने वाला, परस्पर में एक दूसरों को हानि न पहुंचाते हुए धर्म और काम का सेवन करने वाला, धर्म, अर्थ और काम सेवन के योग्य पत्नि, गाँव, नगर और मकान वाला लज्जाशील शास्त्रानुसार खान-पान और गमनागमन करने वाला, जितेन्द्रि, धर्म की विधि को सुनने वाला, दयालु और पाप भीरु पुरुष गृहस्थ धर्म को पालने में समर्थ होता है। इसके साथ-साथ सदाचारी पुरुषों की संगति करने वाला, विचारशील, पर के द्वारा किये उपकार को मानने वाला होता है।

उपर्युक्त श्रावकों के गुण में प्रथम गुण है “न्यायपूर्वक धन कमाना” श्रावक गृह में रहता है, व्यापार – धंधा करता है इसलिये उसको धन की आवश्यकता पड़ती है। तथापि धनार्जन असत् उपायों से नहीं करना चाहिये।

स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासधात, ठगना, चोरी करना आदि निन्दित उपायों से धनोपार्जन रहित तथा अपने-अपने वर्णों के अनुसार सदाचार को न्याय कहते हैं। न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना न्यायोपात्त धन कहलाता है। जो पुरुष न्यायपूर्वक धनोपार्जन करता हो वही गृहस्थ धर्म धारण करने योग्य है क्योंकि गृहस्थों की मनोवृत्ति प्रायः कर धनोपार्जन में ही लगी रहती है। इसलिये धनेच्छुक मनुष्य यहाँ तहाँ न्याय-अन्याय का विचार न करके धनोपार्जन करते हैं। उनकी मनोभूमि एक देशव्रत पालन करने की तरफ नहीं झुक सकती है। न्यायोपार्जित किया हुआ धन ही इस लोक और परलोक में सुख देने वाला है। सो ही आचार्यों ने कहा है –

सर्वत्र शुचयो धीराः सुकर्मबलगर्विताः।

स्वकर्मनिहितात्मानः पापाः सर्वत्र शंकिताः ॥

आनावश्यक - अप्रयोजनीय कार्य अकरणीय

"उन्नत मानस यस्य तस्य भाग्य समुन्नतम्", "मनस्यैक वचस्यैक-कर्मण्यैक महात्मानाम्", यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" आदि महान् आध्यात्मिक सूत्रों से यह शिक्षा मिलती है कि "जिसके भाव उन्नत हैं उसके भाग्य उन्नत हैं", "जिसके मन - वचन - कर्म सरल - सहज - पवित्र एवं एकनिष्ठ है वह महात्मा है", "जिसकी भावना जैसी होती है उसकी सिद्धि वैसी होती है। महान् पवित्र उद्देश्य/लक्ष्य सम्पन्न महा मनीषी कभी भी किसी भी वस्तु - धन - जन - समय - साधन - वचन आदि का अपव्यय, दुरुपयोग, अप्रयोजन-भूत प्रयोग कदापि - कथञ्चित नहीं करते हैं। कथञ्चित प्रमादवशतः ऐसा अनर्थदण्ड होने पर उसे वे दोष मानकर प्रतिक्रमण करके प्रायशिच्चत लेकर आगे के लिये इसका प्रत्याख्यान करते हैं। भगवान् महावीर ने तो अप्रयोजन भूत कार्य (अनर्थदण्ड) को हिंसा तक कहा है। यथा -
गूखनन - वृक्षमोटन शाङ्खलदलानां बुसेचनादीनि।
निष्कारणं न कुर्यात्, दलफल-कुसुमोच्यानापि च॥

(143) (पु.सि.उ.)

भूमि खोदना, वृक्ष को उखाडना, घास पत्ति तोड़ना,

जो पुरुष न्याय और उत्तम कर्मों के बल से गर्वित हैं वे पुरुष सब जगह प्रत्येक स्थिति में तथा प्रत्येक कार्य में धीर तथा पवित्र रहते हैं। उनको कहीं पर भी किसी प्रकार का भय नहीं होता है। परन्तु जिन्होंने निंद्य तथा नीच कर्मों से अपनी आत्मा को पवित्र किया है, वे सब शंकित तथा भयभीत हैं और भी आचार्यों ने कहा है -

अन्यायोपार्जितं वित्त दश वर्षाणि तिष्ठति ॥

प्राप्तात्वेकादशो वर्षे समूल विनश्यति ॥ (9)

यांति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यचोऽपि सहायतां ।

अपन्थानां तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुच्यति ॥ (10)

अन्यायपूर्वक उपार्जन किया धन अधिक से अधिक दस वर्ष तक रह सकता है और ग्यारहवाँ वर्ष लगने पर मूल सहित नष्ट हो जाता है। न्याय मार्ग पर चलने वाले पुरुषों को तिर्यङ्ग भी सहायता करते हैं और अन्याय पूर्वक प्रवृत्ति करने वालों का साथ अपना सगा भाई भी छोड़ देता है।

पानी ढोलना, सिंचन करना आदि कार्य निष्कारण नहीं करना चाहिये। किसी भी कार्य को अनावश्यक करना अनर्थदण्ड रूप हिंसा है।

रागादि वर्द्धनानां, दुष्टकथानामबोध—बहुलानाम् ।
न कदाचिन कुर्वीत, श्रवणाऽर्जन—शिक्षाणादीनि ॥ (145)

दुष्ट कथाओं का श्रवण, व्याख्यान, शिक्षण आदि कदाचित् नहीं करना चाहिये। जिससे हिंसा का प्रवर्तन होता है तथा हिंसादि शास्त्रों का श्रवण, अर्जन, शिक्षण, परकथन इत्यादि दुष्ट कथाओं का श्रवण आदि कदाचित् नहीं करना चाहिए। जिससे रागादि बढ़ते हैं, काम कथा बढ़ती है, अज्ञानता बहुल है ऐसे पंच प्रकार के अनर्थ दण्ड को नहीं करना चाहिये जो, हिंसा के कारण हैं।

परम आत्म शोधन - साम्यभाव, पर्यावरण संरक्षण विश्व विज्ञान - विश्व शांति की जीवन्त प्रयोग शाला: जैन श्रमण

जैन श्रमण के विश्वास, विवेक, लक्ष्य, आचरण, कथन आदि रूढि, परम्परावादी, संकीर्ण, अंधविश्वास, संकीर्ण - स्वार्थ निष्ठ, भौतिकवादी out of date, अप्रासंगिक, अनुपयोगी न होकर परम आत्म शोधक, सत्य निष्ठ, समतानावी, उदार, वैश्विक, सार्वभौम, सर्वजीव हितकारी,

86

सर्वजीव सुखकारी पर्यावरण संरक्षक, परम वैश्विक विज्ञान, नित्यनूतन, नित्य पुरातन/शाश्वतिक, स्व-पर विश्व के अनन्त कल्पाणकारी है। उनके बाह्य तप - त्याग - क्रिया - काण्डों से भी उनके अन्तरंग लक्ष्य, भावादि अति महत्वपूर्ण, उपादेय, ग्रहणीय हैं। जिस प्रकार भौतिक वैज्ञानिक भौतिक प्रयोगशाला में प्रयोग करके शोध - बोध, आविष्कार आदि करते हैं, उसी प्रकार जैन श्रमण स्व - प्रयोगशाला (स्व-आत्म, मन - वचन - शरीर, व्यवहार) से लेकर समाज, पर्यावरण, पृथ्वी, विश्व में प्रयोग करते हैं, जिस प्रकार एक सच्चा वैज्ञानिक सनप्र-सत्यग्राही होकर संकीर्णता से रहित होकर पंथ - मत - राष्ट्र आदि की सीमा से परे होकर शोध - बोध आदि करता है उससे भी अधिक व्यापक लक्ष्य को लेकर एक सच्चा श्रमण सतत सर्वांगीण रूप से श्रम करता है। इसलिए तो उन्हें जैन श्रमण कहते हैं। जैन का अर्थ है - विजयी। जो अन्ध श्रद्धा/मिथ्याग्रह, मिथ्याज्ञान, असदाचरण, कषाय, इंद्रिय आदि के ऊपर विजय प्राप्त करते हैं उन्हें जैन कहते हैं। इस जैनत्व गुण के साथ - साथ समता भाव से सतत सत्य की उपलब्धि तथा स्व-पर-विश्व-कल्पाण के लिए जो श्रम करते हैं उन्हें जैन श्रमण कहते हैं। इसलिए तो जैन श्रमण को साधु,

मुनि, आत्मविद्या विशारद, विश्व विद्या विशारद, मुमुक्षु, आत्म साधक, ऋषि, तरण – तारण, निस्पृही, वितराणी, निर्ग्रन्थ आदि नाम से अभिहित किया जाता है। इसलिए उन्हें – “अवाक् निसर्ग वपुषा मोक्ष मार्ग प्रगटयति / प्रदर्शयति / कथयति” अर्थात् श्रमण के शरीर / आचरण ही मोक्ष मार्ग का अथक रूप से मौन पूर्वक कथन करते हैं। अर्थात् इनके आचरण ही उपदेश हैं, आदर्श हैं, संदेश हैं, खुली पुस्तक है। जैन धर्म के समस्त तीर्थकर क्षत्रिय राजकुमार या राजा – महाराजा – चक्रवर्ती हुए हैं। अष्टकांश श्रमण भी राजकुमार, राजा – महाराजा, कामदेव (विश्वसुंदर) शाला का पुरुष (युगपुरुष, श्रेष्ठपुरुष), सठ-साहुकार, मंत्री, सेनापति, न्यायाधिश, कोषाध्यक्ष, सामान्य प्रजा से लेकर चक्रवर्ती सम्राट हुए हैं। उन्होंने गृहस्थावस्था में उपर्युक्त भूमिका के अनुसार कार्य करते हुए भी वह कार्य नहीं कर पाते थे जो श्रमण होकर कर पाते हैं।

अर्थात् सत्य की उपलब्धि, स्व – पर – विश्व – कल्याणादि गृहस्थावस्था में जो सम्राट / चक्रवर्ती भी नहीं कर पाते थे वही सर्वसत्ता सम्पत्ति त्याग करके श्रमण बनकर पाते थे। इतना ही नहीं एक सामान्य व्यक्ति भी श्रमण बनकर सम्राट से भी श्रेष्ठ कार्य कर

पाते थे। इस लिए तो राजकुमार गौतम (बुद्ध), जैन तीर्थकर (सब राजवंशी), उपनिषद के ऋषि याज्ञवल्क्य आदि राजा सत्ता – सम्पत्ति आदि को त्याग करके संन्यासी बने।

जैन श्रमण के समस्त मूलगुण – उत्तरगुण, व्रत, नियम आदि उपर्युक्त महान् उद्देश्य के लिए होते हैं। परन्तु इस संक्षिप्त लेख में उनमें से कुछ व्रतादि का वर्णन कर रहा हूँ। जिससे उनकी महत्ता का दिग्दर्शन हो। विशेष जिज्ञासु मेरी (1) जैन साधु का नगनत्व एवं केशलोंच, (2) श्रमण संघ संहिता का अध्ययन करें।

1. भाव शुद्धि :- “जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे” “स्व.दोष शांत्या विहीनात्म शांतिः” आदि महानतम सूत्रों में अंतरंग – बहिरंग व्यक्ति, समूह, पिण्ड, ब्रह्माण्ड की शुद्धता – सुरक्षा – समृद्धि – के उपाय बताये गये हैं। भाव अशुद्धि के कारण जीव में अंधश्रद्धा, हिंसा, अब्रह्मचर्य, परिग्रह, व्यसन, असंयम, अनुशासन विहीनता, अनर्थदण्ड, असावधानी आदि दोष उत्पन्न होते हैं जिससे समस्त प्रकार के प्रदूषण फैलते हैं तथा पर्यावरण को प्रदूषित करते हैं। अशुद्ध भाव से शरीर की विभिन्न ग्रंथियों से जो रासायनिक स्राव निकलता है वह शरीर, मन, इंद्रियों को अस्वस्थ, दुर्बल, प्रदूषित बनाता है तथा अशुद्ध भावात्मक

तरंगे भी अदृश्य, सूक्ष्म परन्तु प्रभाव शाली रूप से पर्यावरण को प्रदूषित करती हैं।

अभी तक वैज्ञानिक, पर्यावरण विद्वान् जो जल, मृदा, वायु, शब्द आदि प्रदूषण के बारे में शोध-बोध, प्रचार-प्रसार कर रहे हैं वह सब अत्यन्त स्थूल, उथला है। इनके द्वारा प्रतिपादित पर्यावरण सुरक्षा के उपाय भी स्थूल, उथले, अवैश्विक, अशाश्वतिक हैं परन्तु भारतीय महान् आध्यात्मिक वैज्ञानिकों तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित भावात्मक प्रदूषण तथा उससे जायमान समस्त प्रदूषण एवं पर्यावरण सुरक्षा के उपाय शाश्वतिक, सार्वभौम हैं जिसे जैन - श्रमण श्रद्धा - विवेक - आचरण में लाते हैं।

2. अहिंसा :— “अहिंसा परमोर्धम्” “अहिंसत्वं च भूतानाम् मृततत्वाय क्लपते” “अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमम्” “अहिंसा परमं सुखम्” “जिओं और जिने दो” आदि सूत्र पर्यावरण संरक्षण के तरीकों को बताते हैं। इन सूत्रों से सिद्ध होता है कि जीवों की सुरक्षा ही परम धर्म है, अमृत है, परम ब्रह्म है, परम सुख स्वरूप है। जैन धर्मानुसार (1) पृथ्वीकायिक (2) जल कायिक (3) अग्निकायिक (4) वायुकायिक (5) वनस्पति कायिक आदि एकेन्द्रिय स्थावर जीव हैं तथा (6) लट

आदि द्वीन्द्रिय (7) चींटी आदि त्रीन्द्रिय (8) मक्खी आदि चतुर्र्णिंद्रिय (9) मनुष्य, पशु-पक्षी, मछली आदि पञ्चेन्द्रिय त्रस जीव हैं। इन सबको क्षति नहीं पहुँचाना अहिंसा है। भारतीय परंपरा में जो वृक्ष, नदी, पर्वत, जल, सूर्य, पृथ्वी आदि की पूजा की जाती है, उसका मुख्य उद्देश्य इन सबकी सुरक्षा-समुद्दिष्ट है। जैन मुनि समस्त प्रकार की हिंसा से निवृत्त होते हैं।

यथा — हे भगवान् ! प्रथम महाब्रत में सम्पूर्ण जीवों के घात का मैं आजीवन के लिए तीन प्रकार से अर्थात् मन, वचन, काय से त्याग करता हूँ। वे एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पाँच इन्द्रिय जीव तथा काय की अपेक्षा पृथ्वी कायिक, जलकायिक, अग्नि कायिक, वायु कायिक, वनस्पति कायिक और त्रस कायिक जीव अंडज, पो तज, जरायुज, रसायिक संस्वेदिक, समूच्छिम, उम्देदिया, उपपादिम, त्रस, स्थावर, बादर, सूक्ष्म, विकलत्रय, वनस्पति कायिक, पंचेन्द्रिय जीव एवं पृथ्वी कायिक से वायु कायिक पर्यन्त पर्याप्त, अपर्याप्त और चौरासी लाख योनि के प्रमुख जीवों के प्राणों का घात न स्वयं करें, प्राणों का घात न दूसरों से करावें अथवा अन्य के द्वारा प्राणों का घात करने वाले की अनुमोदना न करें। हे भगवान् ! उस प्रथम महाब्रत में तत् संबंधी अतिचारों का

त्याग करता हूँ अपनी निंदा करता हूँ गहरा करता हूँ हे भगवान् ! अतीत काल में उपार्जित जो भी मैंने राग से, द्वेष से, मोह से वशीभूत होकर उपर्युक्त जीवों में किसी भी जीव के प्राणों का घात स्वयं किया हो, अन्य से करवाया हो अथवा प्राण घात करने वाले अन्य जीवों की अनुमोदना की हो तो उन सर्व दोषों का मैं त्याग करता हूँ।

स्व - पर को किसी भी कारण से कष्ट / क्षति नहीं पहुँचाना (अ+हिंसा, अ=नहीं, हिंसा=हानि / क्षति / विकृति) है। स्व - पर - प्रति पूर्वोक्त दोषों से रहित भाव होना भाव अहिंसा है, और भाव अहिंसा सहित स्व - पर का मन - वचन - काय - कृत - कारित - अनुमति से क्षति नहीं पहुँचाना द्रव्य अहिंसा है। इससे स्व-पर की समग्रता से सुरक्षा, समृद्धि होती है। स्व तथा भाव अहिंसा होने पर ही, स्व - पर तथा द्रव्य अहिंसा का पालन हो सकता है। अहिंसा के कारण राग-द्वेष, अपना -पराया, भेदभाव, ऊँच-नीच, ईर्ष्या - कलह, युद्ध, आतंकवाद, हत्या, आक्रमण आदि का अभाव हो जाता है, जिसके कारण विश्व में सुख-शान्ति-समृद्धि होती है।

3. समिति :- (यत्पूर्वक आचरण) सावधानी पूर्वक जीवों की सुरक्षा करते हुए स्वकर्तव्यों का पालन करना समिति है। (1) ईर्या समिति में सूर्य के प्रकाश में जीवों

की दया करते हुए चलने का विधान है। (2) भाषा समिति में हित - मित - प्रिय बोला जाता है। इससे शब्द प्रदूषण परस्पर कलह रूपी प्रदूषण नहीं होता है। (3) ऐषणा समिति में शुद्ध सात्त्विक, शाकाहार, फलाहार, दुर्घाहार का सेवन होता है जिससे जीवों की हत्या नहीं होती और शारीरिक, मानसिक रोग भी नहीं होते हैं (4) आदान निष्केपण समिति में हर वस्तु की देखभाल कर जीवों की सुरक्षा करते हुए उठाना, प्रयोग करना एवं रखना है। (5) उत्सर्ग समिति में नगर, ग्राम, रास्ता, पशु-पक्षी के निवास, वृक्ष, बगीचा, जीव-जन्तु से रहित निर्जन एकान्त गुह्य स्थान में मलमूत्र, गंदगी, अपशिष्ट को विसर्जन करना होता है। इससे ग्राम आदि में प्रदूषण, गंदगी जीवाणु नहीं फैलते। इससे पर्यावरण की सुरक्षा, स्वच्छता होती है।

जैन श्रमण के विभिन्न गुण-धर्म का रूपक - अलंकारात्मक वर्णन निम्नोक्त प्रकार से आचार्य वीरसेन ने जय धवला में किया है -

सिंह गज वृषभ मृगपशु मारुत सूर्योदयि मन्दरेन्दु मणयः।
क्षिति उरगाम्बर सदृशः परमपद विमार्ग का साधवः ॥

परम पद के अन्वेषक साधु (1) सिंह के समान

दूसरों से ईर्ष्या, दूसरों की निन्दा भी असत्य-हिंसा-पाप

केवल हिंसा, चोरी, परिग्रह (धन संग्रह) कुशील, असत्य आदि ही हिंसा – पाप नहीं हैं परन्तु दूसरों से ईर्ष्या करना, दूसरों की निन्दा करना, द्वेष, वैरत्व आदि करना भी असत्य – हिंसा – पाप – अपराध है। क्योंकि इससे स्वयं का परिणाम कलुषित होता है तथा दूसरों को भी दुःख – पीड़ा होती है। इस में भी जो धार्मिक क्षेत्र में एक धर्म के लोग अन्य धर्म के लोगों से ईर्ष्यादि करते हैं तो और भी अधिक पाप होता है। क्योंकि धर्म का क्षेत्र पवित्र, उदार, सहिष्णु आदि गुणों से मुक्त होता है। कहा भी है –

अन्य क्षेत्रे कृत पापं धर्म क्षेत्रे विनश्यति ।
धर्म क्षेत्रे कृतं पापं वज्र लेपो भविष्यति ॥

इतिहास साक्षी है और अभी भी प्रायोगिक है कि धर्म के नाम पर ईर्ष्या, द्वेष, वैर, निन्दा, भेद-भाव, कलह, युद्ध हत्या आदि अधिक हुए हैं और अभी भी हो रहे हैं जो कि यथार्थ से केवल अधर्म नहीं है अपितु अनुचित, अनावश्यक, अनैतिक, अविधेय है। अतः प्राचीन प्रबुद्ध श्रेष्ठ जैनाचार्यों से लेकर हिन्दु धर्म के भी महापुरुषों ने ईर्ष्या, द्वेष, निन्दा

साहसी, वीर, पुरुषार्थी (2) हाथी के समान बलवान् (3) वृषभ के समान भद्र (4) मृग पशु के समान शाकाहारी, शांत, सरल (5) वायु के समान निसंग, सर्व जीवोपकारी (6) सर्व के समान तेजस्वी, प्रकाशमान, विश्वबंधु, निर्बाध गतिशील (7) समुद्र के समान गंभीर, विस्तृत, रत्नाकार, अगाध (8) सुमेरु के समान अविचल, विशाल (9) चन्द्र के समान शीतल, प्रकाशवान् (10) मणि के समान बहुमूल्य, अभंगुर (11) पृथ्वी के समान क्षमावान्, सहिष्णु, रत्नगर्भा (12) सर्प के समान अनियतवास, निस्पृह (13) आकाश के समान अनन्त, सर्वव्यापी, निर्मल, सब को अवकाश देने वाले होते हैं। अर्थात् “उदार पुरुषाणं वसुधैव कुटुम्बकम्” के अनुसार विश्व बंधुत्व के पक्षधर उदार होते हैं।

ऐसे महान्, उदार, उदात्त गुणों से युक्त जैन श्रमण किसी भी पंथ – मत, परम्परा, जाति, क्षेत्र, राष्ट्र के नहीं होते हैं। वे किसी के भी नहीं होते हैं परन्तु वे सब के होते हैं, उनका कोई नहीं परन्तु सब उनके होते हैं। ऐसे सत्य, समता, शांति की जीवन्त मूर्ति साधु को भी अन्य लोग उसी रूप में स्वीकार करें न कि किसी संकीर्ण दृष्टि से, विकृत रूप में।

आदि को मानव के महान् प्रबल शत्रु कैहा है और उसके त्यागने से सुख, शान्ति, वैभव प्राप्त होता है ऐसा वेद व्यास ने भी उपदेश दिया। यथा -

(1) हिन्दु धर्म में वर्णित सत्य के 13 स्वरूप :-

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सब सत्ये प्रतिष्ठितम्॥ 05
(महाभारत)

सत्य ही धर्म, तप और योग है, सत्य ही सनातन ब्रह्म है, सत्य को ही परम यज्ञ कहा गया है तथा सब कुछ सत्य पर ही टिका हुआ है।

सत्यं च समता चैव दमश्चैव न संशयाः।
अमात्सर्य क्षमा चैव हीस्तितिक्षा न सूयता॥ 08
त्यागो ध्यानमथार्यत्वं घृतिश्च सततं स्थिरा।
अहिंसा चैव राजेन्द्र सत्याकारा त्रयोदश॥ 09

राजेन्द्र ! सत्य समता, दम, मत्सरता का अभाव, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा (सहनशीलता), अनसूया, त्याग, परमात्मा का ध्यान, आर्यता (श्रेष्ठ आचरण), निरन्तर स्थिर रहने वाली धृति (धैर्य) तथा अहिंसा ये तेरह सत्य के ही स्वरूप हैं इसमें संशय नहीं है।

96

सत्यं नामाव्ययं नित्यमविकारी तथैव च।
सर्व धर्मा विरुद्धेन योगेनैतदवाप्यते ॥ 10

नित्य एक रस, अविनाशी और अविकारी होना ही सत्य का लक्षण है। समस्त धर्मों के अनुकूल कर्तव्य पालन के रूप योग के द्वारा इस सत्य की प्राप्ति होती है। आत्मनीषे तथा मीषे रिपौ च समाता तथा। इच्छा द्वेष क्षयं प्राप्य काम क्रोध क्षमं तथा ॥ 11

अपने प्रिय मित्र में तथा अप्रिय शत्रु में भी समान भाव रखना 'समता' है। इच्छा (राग) द्वेष काम और क्रोध को मिटा देना ही समता की प्राप्ति का उपाय है। दमो नान्य स्पृहा नित्यं गाम्भीर्यं धैर्यमेव च। अभयं रोगशमनं ज्ञानेनैत दवाप्यते ॥ 12

किसी दूसरे की वस्तु को लेने की इच्छा न करना, सदा गम्भीरता और धीरता रखना, भय को त्याग देना तथा मन के रोगों को शांतकर देना यह 'दम' मन और इंद्रियों के संयम का लक्षण है। इसकी प्राप्ति ज्ञान से होती है।

अमात्सर्य बुधाः प्राहुदर्दने धर्मं च संयमः।
अवस्थितेन नित्यं च सत्येना मत्सरी भवेत् ॥ 13

दान और धर्म करते समय मन पर संयम रखना
अर्थात् इस विषय में दूसरों से ईर्ष्या न करना इसे विद्वान
लोग मत्सरता का अभाव कहते हैं, सदा सत्य का पालन
करने से ही मनुष्य मत्सरता से रहित हो सकता है।

अक्षमायाः क्षमायाच्च प्रियाणीहा प्रियाणि च।
क्षमते सम्मतः साधुः साहवाज्ञोति च सत्यवाक्॥ 14

जो सहने और न सहने योग्य व्यवहारों तथा प्रिय एवं
अप्रिय वचनों को भी समान रूप से सहन कर लेता है, वही
सर्व सम्मत क्षमाशील श्रेष्ठ पुरुष है। सत्यवादी पुरुषों को
ही उत्तम रीति से क्षमा भाव की प्राप्ति होती है।

कल्याण कुरुते बाढं धीमान् न ग्लायते क्वचित्।
प्रशान्त वाङ्गना नित्यं ह्लीस्तु धर्मादवाप्यते॥ 15

जो बुद्धिमान् पुरुष भली भाँति दूसरों का कल्याण
करता है और मन में कभी खेद नहीं मानता, जिसकी
मन-वाणी सदा शांत रहती है, वह लज्जाशील माना
जाता है यह लज्जा नामक गुण धर्म के आचरण से प्राप्त
होता है।

धर्मार्थं हेतोः क्षमते तितिक्षा क्षान्ति रुच्यते।
लोक संग्रहणार्थं वै सा तु धैर्येण लभ्यते॥ 16

98

धर्म और अर्थ के लिए मनुष्य जो कष्ट को तहन
करता है, उसकी यह सहनशीलता ‘तितिक्षा’ कहलाती
है। लोगों के सामने आदर्श उपस्थित करने के लिए
उसका अवश्य पालन करना चाहिए। तितिक्षा की प्राप्ति
धैर्य से होती है। दूसरों के दोष न देखना ‘अनसूया’ है।
त्याग स्नेहस्य यत् त्यागो विषयाणां तथैव च।
राग द्वेष प्रहिणस्य त्यागो भवति नान्यथा॥ 17

विषयों की आसक्ति का जो त्याग है, वही वास्तविक
त्याग है। राग द्वेष से रहित होने पर ही त्याग की सिद्धि
होती है, अन्यथा नहीं। परमात्म चिंतन का नाम ही ध्यान
है।

आर्यता नाम भूतानां यः करोति प्रयत्नतः।
शुभं कर्म निराकारो वीतरागस्तथैव च॥ 18

जो मनुष्य अपने को प्रकट न करके प्रयत्न पूर्वक
प्राणियों की भलाई का काम करता रहता है, उसके उस
श्रेष्ठ भाव और आचरण का नाम ही आर्यता है। यह
आसक्ति के त्याग से प्राप्त होता है।

धृतिर्नाम सुखे दुःखे यथा नाज्ञोति विक्रियाम्।
तां भजेत सदा प्राज्ञो य इच्छेद भूतिमात्मनः॥ 19

99

सुख या दुःख प्राप्त होने पर मन मैं विकार न होना
 'धृति' है। जो अपनी उन्नति चाहता हो, उस बुद्धिमान्
 पुरुष को सदा ही धृति का सेवन करना चाहिए।
 सर्वथा क्षमिणा भाव्यं तथा सत्यपरेण च।
 वीत हर्ष भय क्रोधो धृति माजोति पण्डितः॥ 20

मनुष्य को सदा क्षमाशील होना, सत्य में तत्पर रहना
 चाहिए। जिसने हर्ष, भय और क्रोध तीनों को त्याग दिया
 है, उस विद्वान् पुरुष को ही धैर्य की प्राप्ति होती है।
 अद्रोहः सर्वं भूतेषु कर्मणा मनसा गिरा।
 अनुग्रहश्च दानं च सतां धर्मः सनातनः॥ 21

मन, वाणी, और क्रिया द्वारा सभी प्राणियों के साथ
 कभी द्रोह न करना तथा दया और दान यह श्रेष्ठ पुरुषों
 का सनातन धर्म है।

2. हिन्दू धर्म में वर्णित 13 प्रवल शत्रु

यतः प्रभवति क्रोधः कामो वा भरतर्षभ।
 शोक मोहौ विधित्सा च परासुत्वं तथा मदः॥ 01
 लोभोमात्सर्य मीर्ष्या च कुत्सासूया कृपा तथा।
 एतत् सर्वे महाप्राज्ञ याथातथ्येन मे वद॥ 02

युधिष्ठिर ने पूछा — भरत श्रेष्ठ ! परम बुद्धिमान्
 पितामाह ! क्रोध, काम, शोक, मोह विधित्सा (शास्त्र
 विरुद्ध काम करने की इच्छा), परासुता (दूसरों को मारने
 की इच्छा), मद, लोभ, मात्सर्य ईर्ष्या, निदा, दोष दृष्टि
 और कंजूसी (दैन्यभाव) — ये सब दोष किससे उत्पन्न
 होते हैं ? यह ठीक-ठीक बताइये।

त्रयोदशैते 5 तिब्लाः शत्रवः प्राणिनां स्मृताः।
 उपासन्ते महाराज समन्तात् परुषानिह॥ 03

भीष्म जी ने कहा — महाराज युधिष्ठिर ! तुम्हारे कहे
 हुए ये तेरह दोष प्राणियों के अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये
 हैं, जो यहाँ मनुष्यों को सब ओर से घेरे रहते हैं।
 लोभात् क्रोधः प्रभवति परदोषै रुदीर्यते।
 क्षमया तिष्ठते राजन् क्षमया विनिवर्तते॥ 07

राजन् ! क्रोध लोभ से उत्पन्न होता है, दूसरों के दोष
 देखने से बढ़ता है, क्षमा करने से थम जाता है और क्षमा
 से ही निवृत हो जाता है।

परासुता क्रोध लोभादम्या साच्च प्रवर्तते॥ 09
 दयया सर्वं भूतानां निर्वदात् सा निवर्तते।
 अवद्यदर्शनादेति तत्वं ज्ञानाच्च धीमताम्॥ 10

क्रोध और लोभ से तथा अभ्यास से परासुता प्रकट होती है। सम्पूर्ण प्राणियों के प्रति दया से और वैराग्य से वह निवृत्त होती है। परदोष दर्शन से इसकी उत्पत्ति होती है और बुद्धिमानों के तत्त्वज्ञान से वह नष्ट हो जाती है।

परासुता क्रोध लोभादभ्याच्च प्रवर्तते ।

दयथा सर्व भूतानां निर्वदात् सा निवर्तते ॥ 14

क्रोध, लोभ और अभ्यास के कारण परासुता अर्थात् दूसरों को मारने की इच्छा होती है। समस्त प्राणियों के प्रति दया और वैराग्य होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।

सत्यत्यागात् तु मात्सर्य महितानां च सेवया ।

एतत् तु क्षीयते तात् साधू नामुपसेवनात् ॥ 15

सत्य का त्याग और दुष्टों का साथ करने से मात्सर्य दोष की उत्पत्ति होती है। तात ! श्रेष्ठ पुरुषों की सेवा और संगति करने से उसका नाश हो जाता है।

कुलाज्ज्ञानात्, तथैश्वर्यान्मदो भवति देहिनाम् ।

एभिरेव तु विज्ञातैः स च सद्यः प्रणश्यति ॥ 16

अपने उत्तम कुल, उत्कृष्ट ज्ञान तथा ऐश्वर्य का

अभिमान होने से देहाभिमानी मनुष्यों पर मद सवार हो जाता है; परन्तु इनके यथार्थ स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर वह मद तत्काल उत्तर जाता है।

ईर्ष्या कामात् प्रभवति संहर्षाच्चैव जायते ।

इतरेषां तु सत्त्वानां प्रज्ञया सा प्रणश्यति ॥ 17

मन में कामना होने से तथा दूसरे प्राणियों की हँसी—खुशी देखने से ईर्ष्या की उत्पत्ति होती है तथा विवेकशील बुद्धि के द्वारा उसका नाश होता है।

प्रतिकर्तुं न शक्ता ये बलस्थाययापकारिणे ।

असूया जायते तीव्रा कारुण्याद् विनिवर्तते ॥ 19

जो लोग अपनी बुराई करने वाले बलवान् मनुष्य से बदला लेने में असमर्थ होते हैं, उनके हृदय में तीव्र असूया (दोष दर्शन की प्रवृत्ति) पैदा होती है; परन्तु दया का भाव जागृत होने से उसकी निवृत्ति हो जाती है।

नृशंसो दद्यते नित्यं प्रेत्य चेह च भारत ।

तस्मात् त्वं ब्रूहि कौरव्य तस्य धर्म विनिश्चयम् ॥ 03

भारत ! कुरुनन्दन ! नृशंस मनुष्य इसलोक और परलोक में भी सदा ही शोक की आग से जलता रहता है; अतः आप मुझे नृशंस मनुष्य और उसके धर्म—कर्म का

यथार्थ परिचय दीजिए।

स्पृहा स्याद् गर्हिता चैव विधित्सा चैव कर्मणाम्।
आक्रोष्टा क्रुश्यते चैव वज्चितो बुद्ध्यते स च॥ 04
दतानु कीर्ति विषमः क्षुद्रो नैकृतिकः शठः।
असंविभागी मानी च तथा संगी विकत्थनः॥ 05
सर्वाति शंकी पुरुषो बलीशः कृपणोऽथवा।
वर्ग प्रशंसी सततमाश्रम द्वेष संकरी॥ 06
हिंसा विहारः सतत मवि शेष गुणा गुणः।
बहुलीको ५ मनस्वी च लुभ्योऽत्यर्थ नृशंसकृत॥ 07

भीषजी ने कहा राजन् ! जिसके मन में बड़ी घृणित इच्छाएँ रहती हैं, जो हिंसा प्रधान कुत्सित कर्मों को आरम्भ करना चाहता है, स्वयं दूसरों की निंदा करता है और दूसरे उसकी निंदा करते हैं, जो अपने दैव से वज्चित समझता और पाप में प्रवृत्त होता है, दिये हुए दान का बार-बार बखान करता है, जिसके मन में विषमता भरी रहती है, जो नीच कर्म करने वाला, दूसरों की जीविका का नाश करने वाला और शठ है, भोग्य

104

वस्तुओं को दूसरे को दिये बिना ही अकेले भोगता है, जिसके भीतर अभिमान भरा हुआ है, जो विषयों में आसक्त और अपनी प्रशंसा के लिए व्यर्थ ही बढ़-चढ़कर बातें बनाने वाला है, जिसके मन में सबके प्रति संदेह बना रहता है, जो कौए की तरह वज्चक दृष्टि रखने वाला है, जिसमें कृपणता कुट-कुट कर भरी है, जो अपने ही वर्ग के लोगों की प्रशंसा करता सदा आश्रमों से द्वेष रखता और वर्ण संकरता फैलता है, सदा हिंसा के लिए जिसका घूमना – फिरना होता है, जो गण को भी अवगुण समान समझता और बहुत झूठ बोलता है, जिसके मन में उदारता नहीं है और जो अत्यन्त लोभी है, ऐसा मनुष्य ही नृशंस कर्म करने वाला कहा गया है।

धर्मशीलं गुणोपेतं पापमित्य वगच्छति।

आत्मशील प्रमाणेन न विश्वसिति कस्याचित्॥ 08

वह धर्मात्मा और गुणवान् पुरुष को ही पापी मानता है और अपने स्वभाव को आदर्श मानकर किसी पर विश्वास नहीं करता है।

105

परेषां यत्र दोषः स्यात् तद् गुह्यं सम्पकाशयेत्।
समानेष्वेव दोषेषु वृत्त्यर्थं मुपघातयेत्॥ 09

जहाँ दूसरों की बदनामी होती हो, वहाँ उनके गुप्त दोषों को भी प्रकट कर देता है और अपने तथा दूसरे के अपराध बराबर होने पर भी वह आजीविका के लिए दूसरे का ही सर्वनाश करता है।

अज्ञानावस्था के दोष ज्ञानी अवस्था में त्याग करता है :-

यत् करोति बहुदोषमेकत मतस्तच्च दूषयति यत्पुरा कृतम्।
नाप्रियं तदुभयं करोत्य सौ यच्च दूषयतियत् करोतिच॥ 46

अज्ञानावस्था में मनुष्य जो अनेक दोष से युक्त कर्म करता है और वह पहले के जो कर्म कर चुका है उनके लिए शोक करता है, इसके सिवा अज्ञानावस्था में जो वह दूसरे के किये हुए अप्रिय कर्म को दोष रूप में देखता है और रागादि दोष के कारण स्वयं जो दूषित कर्म करता है वह दोनों ही प्रकार का कार्य वह ज्ञान होने के बाद नहीं करता है।

विदेशी नागरिकों में जैन धर्म की प्रभावना
(आ. कनकनन्दी के शिष्य डॉ. कछारा द्वारा विदेशों में प्रभावना -

डॉ. नारायणलाल कछारा जी आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव से प्रायः 10-11 वर्षों से वैज्ञानिक आध्यात्मिक जैन धर्म के विविध विषयों को आधुनिक वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करके तत्सम्बन्धी अनेक शोधपूर्ण साहित्यों की रचना (हिन्दी एवं अंग्रेजी में) कर रहे हैं; अमेरिका दो बार, लन्दन एक बार, विश्व धर्म सभा आस्ट्रेलिया एक बार, भारत के विभिन्न विश्वविद्यालय एवं वैज्ञानिक संगोष्ठियों में जाकर धर्म की प्रभावना करने के उपलक्ष्य में आचार्य श्री कनकनन्दी जी (संसंघ) के आशीर्वाद से उन्हें 'जैन ज्ञान विज्ञान मनीषी' एवं 'विश्व धर्म प्रभाकर' उपाधि से अलंकृत किया गया है। कछारा जी आचार्य श्री द्वारा आशीर्वाद प्राप्त धर्म-दर्शन सेवा संस्थान के सचिव भी हैं।)

जैन अध्ययन हेतु इन्टरनेशनल समर स्कूल नामक संस्था विदेश में जैन धर्म की प्रभावना के लिए महत्वपूर्ण कार्य कर रही है। यह संस्था अमेरिका, कनाडा, इंगलैण्ड आदि देशों में विश्वविद्यालय और महाविद्यालय के चयनित अध्यापकों, शोध छात्रों और विद्यार्थियों को भारत में जैन धर्म

पर प्रशिक्षण प्रदान करती है। प्रशिक्षित विद्यार्थी अपनी—अपनी संस्थाओं में जैन धर्म का प्रचार—प्रसार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ऐसे प्रशिक्षणार्थियों के यात्रा, भोजन, आवास आदि सम्पूर्ण व्यय की व्यवस्था इसी संस्था द्वारा की जाती है। अमेरिका में संस्था का कार्य प्रो. क्रोमवेल क्राफर्ड एवं डॉ. सुलेखचन्द जैन तथा भारत में डॉ. सुगनचन्द जैन देख रहे हैं। पिछले पाँच वर्षों में नौ देशों के 20 विश्वविद्यालयों के 122 छात्र इस कार्यक्रम से लाभान्वित हो चुके हैं।

वर्ष 2010 में 44 विद्यार्थियों का एक दल, जिसमें 18 स्नातक, 13 परास्नातक तथा 13 अध्यापक और शोध छात्र हैं, भारत आया है। इन का एक सप्ताह का सम्मिलित प्रशिक्षण दिल्ली में आयोजित किया गया। शेष समय के कार्यक्रम जयपुर, वाराणसी और मुम्बई में आयोजित किये गये हैं जिसके लिए दल को तीन समूह में बांटा गया है। इस दल को कर्म सिद्धान्त पर व्याख्यान देने हेतु मुझे दिल्ली आमंत्रित किया गया। लगभग 2.5 घण्टे के दो व्याख्यान में कर्म सिद्धान्त के सैद्धान्तिक और व्यवहारिक पक्ष पर पावर पाइन्ट के माध्यम से प्रस्तुति दी गई जिसे श्रोताओं ने बहुत सराहा और जिज्ञासावश प्रश्नों की झड़ी लगा दी जिसका यथोचित समाधान किया गया।

डॉ. नारायणलाल कछारा

संविधान प्रदत्त सर्व धर्म समान अधिकार

WE, THE PEOPLE OF INDIA, having solemnly resolved to constitute India into a (SOVEREIGN SOCIAL-IST SECULAR DEMOCRATIC REPUBLIC) and to secure to all its citizens;

हम भारत के लोग, भारत को एक (सम्पूर्ण प्रभुत्व—सम्पन्न समाजवादी पन्थ निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य) बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को :—

JUSTICE, Social, economic and political,

LIBERTY of thought, expression, belief, faith and worship,

EQUALITY of status and of opportunity, and to promote among them all

FRATERNITY assuring the dignity of the individual and the (unity and integrity of the Nation);

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय,
विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास धर्म

और उपासना की स्वतन्त्रता

प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त करने के लिए, तथा उन सबमें व्यक्ति की गरिमा और (राष्ट्र की एकता और अखण्डता) सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढ़ाने के लिए

IN OUR CONSTITUENT ASSEMBLY this twenty-sixth day of November, 1949, do HEREBY ADOPT, ENACT AND GIVE TO OURSELVES THIS CONSTITUTION.

दृढ़ संकल्प होकर अपनी इस संविधान सभा में आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिती मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी संवत् दो हजार छह विक्रमी) को एतद द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियम और आत्मार्पित करते हैं।

संविधान के PART III esa FUNDAMENTAL RIGHTS (मूल अधिकार) RIGHT OF EQUALITY (समता का अधिकार के अनुसार:-

(15) Prohibition of discrimination on grounds of religion race, caste, sex or place of birth (1) The state shall not discriminate against any citizen on grounds only of religion, race, caste, sex, place, of birth or any of them.

धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिषेध -

(1) राज्य किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नहीं करेगा।

(2) No citizen shall, on grounds only of religion; race, caste, sex, place of birth or any of them, be subject to any disability, liability; restriction or condition with regard to -

(2) कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी आधार पर -

(A) access to shops, public restaurants, hotels and place of public entertainment; or

(क) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरञ्जन के स्थानों प्रवेश या

(B) The use of wells, tanks bathing ghats, roads and places of public resort maintained wholly or partly out of state funds or dedicated to the use of general public.

(ख) पूर्णतः या भागतः राज्य - निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं, तालाबों,

स्नान घाटों, सड़कों और सार्वजनिक समागम के स्थानों
के उपयोग, के सम्बन्ध में किसी भी नियोग्यता, दायित्व,
निर्बन्धन या शर्त के अधीन नहीं होगा।

25. Freedom of conscience and free profession, practice and propagation of religion (1) Subject to public order, morality and health and to the other provisions of this part, all persons are equally entitled to freedom of conscience and the right freely to profess, practice and propagate religion.

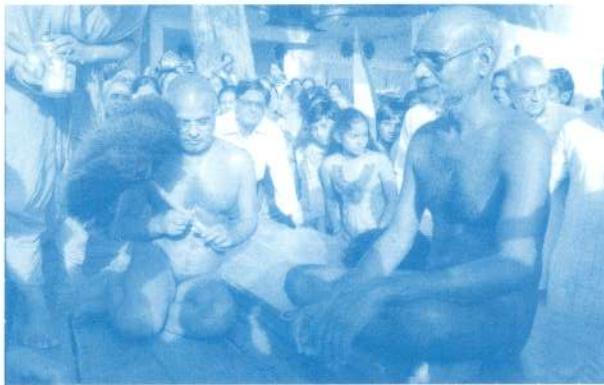
अन्तःकरण की ओर धर्म के अबाध रूप से मानने
आचरण और प्रचार करने की स्वतन्त्रता (1) लोक
व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस मार्ग के अन्य
उपबन्धों के अधीन रहते हुए भी व्यक्तियों को अन्तःकरण
की स्वतन्त्रता का और धर्म के अबाध रूप से मानने
आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा।

गुरुभक्त संस्थान संरक्षक



भारत के 11 प्रदेशों के 27 विश्वविद्यालयों में ''आचार्य कनकननदी
साहित्य कक्ष'' की स्थापना तथा शोधकार्य के सूत्रधार डॉ. तातेड को
‘गुरुभक्त संस्थान संरक्षक’ का प्रशस्ति पत्र प्रदान करते हुए
आचार्य श्री तथा प्रो. प्रभात कुमार। (रामगढ - 2010)

आचार्य द्वय ससंघ मिलन एवं वन्दन



22 वर्षों के अनन्तर वात्सल्य मिलन के अवसर पर आचार्य कनकनन्दी की वन्दना करते हुए आचार्य विराग सागरजी, विशाल धर्म सभा में आ. कनकनन्दी ने आ.विराग सागर को 'प्रशान्तमूर्ति' उपाधि प्रदान किया।(झूँगरपुर - 2010)